दृष्टि The Vision

BPSC Series Book-3

बिहार व भारत की राजव्यवस्था एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंध

(बिहार PCS के विशेष संदर्भ सहित)

BPSC सहित अधीनस्थ सेवाओं एवं
एसएससी, एसआई, ईएसआई, सीडीपीओ
सहित अन्य एकदिवसीय परीक्षाओं के लिये संपूर्ण पुस्तक

बिहार PCS

प्रिलिम्स कोर्स

मोड : ऑनलाइन/पेन ड्राइव

कोर्स की विशेषताएँ

- देश के सर्वश्रेष्ठ शिक्षकों की टीम द्वारा अध्यापन।
- कोर्स की वैधता 2 वर्षों तक तथा प्रत्येक वीडियो को 3 बार तक देखने की सुविधा।
- हर कक्षा के अंत में उस टॉपिक से संबंधित पूछे गए और पूछे जा सकने वाले प्रश्नों पर चर्चा।
- वीडियो क्लिप्स और विजुअल्स की मदद से जटिल विषयों की रुचिकर प्रस्तुति।
- कोर्स के अनुसार तैयार की हुई पाठ्यसामग्री।

अधिक जानकारी के लिये 9311406440 नंबर पर कॉल या वाट्सएप करें

ऑनलाइन क्लास के लिये इंस्टॉल करें **Drishti Learning App**

IAS Foundation Course

सामान्य अध्ययन

(प्रिलिम्स + मेन्स)

मोड : ऑनलाइन/पेन ड्राइव

डॉ. विकास दिव्यकीर्ति के निर्देशन में

कोर्स की विशेषताएँ

- डॉ. विकास दिव्यकीर्ति तथा देश के सर्वश्रेष्ठ शिक्षकों की टीम द्वारा अध्यापन।
- डॉ. विकास दिव्यकीर्ति द्वारा एथिक्स (संपूर्ण), राजव्यवस्था (व्यापक अंश) और समाज (सैद्धांतिक पक्ष) का अध्यापन।
- कुल 1200+ घंटों की 500+ कक्षाएँ।
- प्रत्येक कक्षा को 3 बार तक देखने की सुविधा। कोर्स की वैधता बैच शुरू होने से 3 वर्षों तक।
- संशय निवारण के लिये एकेडमिक सपोर्ट टीम की सुविधा उपलब्ध। नियमित रूप से डाउट क्लासेज़ तथा ऑनलाइन मीटिंग्स की भी व्यवस्था।

एडमिशन प्रारंभ | पहले 500 विद्यार्थियों के लिये 25% की छूट

अतिरिक्त जानकारी के लिये 9311406442 नंबर पर कॉल करें या वाट्सएप करें

इंस्टॉलमेंट्स पर भी उपलब्ध ! लॉग-इन कीजिये : www.drishtiIAS.com

ऑनलाइन क्लास के लिये अपने एंड्रॉयड फोन पर इंस्टॉल करें **Drishti Learning App**

BPSC Series : Book-3

बिहार व भारत की राजव्यवस्था

एवं

अंतर्राष्ट्रीय संबंध

दृष्टि पब्लिकेशन्स

641, प्रथम तल, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष: 011-47532596, 87501 87501

Website: www.drishtiias.com
E-mail : booksteam@groupdrishti.com

शीर्षक : बिहार व भारत की राजव्यवस्था एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंध

लेखक : टीम दृष्टि

संस्करण- फरवरी 2021

मूल्य : ₹ 390

ISBN : 978-81-947225-6-4

प्रकाशक

VDK Publications Pvt. Ltd.
(दृष्टि पब्लिकेशन्स)
641, प्रथम तल,
डॉ. मुखर्जी नगर,
दिल्ली-110009

विधिक घोषणाएँ

- इस पुस्तक में प्रकाशित सूचनाएँ, समाचार, ज्ञान एवं तथ्य पूरी तरह से सत्यापित किये गए हैं। फिर भी, यदि कोई जानकारी या तथ्य गलत प्रकाशित हो गया हो तो प्रकाशक, संपादक या मुद्रक उससे किसी व्यक्ति-विशेष या संस्था को पहुँची क्षति के लिये ज़िम्मेदार नहीं है।
- हम विश्वास करते हैं कि इस पुस्तक में छपी सामग्री लेखकों द्वारा मौलिक रूप से लिखी गई है। अगर कॉपीराइट उल्लंघन का कोई मामला सामने आता है तो प्रकाशक को ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जाएगा।
- सभी विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायिक क्षेत्र में होगा।
- **© कॉपीराइट :** VDK Publications Pvt. Ltd. (दृष्टि पब्लिकेशन्स), सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी अंश का प्रकाशन अथवा उपयोग, प्रतिलिपीकरण, ऐसे यंत्र में भंडारण जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो या स्थानांतरण, किसी भी रूप में या किसी भी विधि से (इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग या किसी अन्य प्रकार से) प्रकाशक की पूर्वानुमति के बिना नहीं किया जा सकता।
- एम.पी. प्रिंटर्स, बी-220, फेज़-2, नोएडा (उत्तर प्रदेश) से मुद्रित।

दो शब्द...

प्रिय पाठको,

अपनी स्थापना के समय से ही हमारा उद्देश्य यही रहा है कि हम आप पाठकों को श्रेष्ठ गुणवत्ता की पाठ्य-सामग्री उपलब्ध करा सकें। इसी संकल्प के साथ हम अपनी यात्रा में बढ़ते गए। हमें इस बात की खुशी है कि इस यात्रा में आप पाठकों का अपार स्नेह प्राप्त हुआ, जिससे हमें और आगे बढ़ने तथा नए प्रयोगों को आज़माने का हौसला मिला। हमारे विभिन्न प्लेटफॉर्म्स पर विद्यार्थी हमसे संवाद करते हैं और अपनी बात हम तक पहुँचाते हैं। हम इन संवाद पर गंभीरता से विचार करते हैं तथा हमारी कोशिश रहती है कि आपके अधिक से अधिक जायज़ सुझावों को मूर्त रूप प्रदान कर दिया जाए। इसी सिलसिले में लंबे समय से यह मांग हमारे पास आ रही थी कि हम 'बिहार संयुक्त (प्रारंभिक एवं मुख्य) प्रतियोगिता परीक्षा' (बीपीएससी) के लिये भी पुस्तकों का प्रकाशन करें। हमारी भी इस बात को लेकर सहमति थी कि विद्यार्थियों के बीच श्रेष्ठ कंटेंट उपलब्ध होना ही चाहिये। हम जब भी कोई नई शुरुआत करते हैं तो हमारी कोशिश यही रहती है कि हम श्रेष्ठ गुणवत्ता की पाठ्य-सामग्री के अपने संकल्प से किसी भी कीमत पर समझौता न करें, इसलिये इस प्रस्ताव पर हम लंबे समय से काम कर रहे थे, लेकिन अनेक चरणों से गुज़रने के बाद जब हम इस बात को लेकर आश्वस्त हो गए कि ये पुस्तकें आपके संघर्ष को आसान करने में सक्षम हैं, तब हमने इनके प्रकाशन का निर्णय लिया।

अब, हम आपके समक्ष एक नई पुस्तक सीरीज़ के साथ उपस्थित हैं, जो न केवल 'बिहार संयुक्त (प्रारंभिक एवं मुख्य) प्रतियोगिता परीक्षा' को संपूर्णता से कवर करती है बल्कि यहाँ की अधीनस्थ/एकदिवसीय परीक्षाओं के लिये भी समान रूप से उपयोगी है। यह कुल **आठ पुस्तकों** की एक सीरीज़ है, जिसकी तीसरी कड़ी के रूप में **'बिहार व भारत की राजव्यवस्था एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंध'** की पुस्तक अब आपके हाथों में है। विशिष्ट रूप से इस पुस्तक की चर्चा के पूर्व हम आपको संक्षेप में इस सीरीज़ की कुछ विशेषताओं से अवगत कराना चाहेंगे, ताकि आप इसकी उपयोगिता और अपनी तैयारी में इसके महत्त्व का ठीक-ठीक अनुमान कर सकें।

यह सीरीज़ बिहार संयुक्त प्रतियोगिता परीक्षा के संपूर्ण पाठ्यक्रम (प्रारंभिक एवं मुख्य परीक्षा) को तो कवर करती ही है, साथ ही हमने इसमें उन अतिरिक्त तथ्यों एवं विषय-वस्तुओं को भी शामिल कर दिया है जो बीपीएससी के पाठ्यक्रम से सुसंगत हैं और बिहार की प्रमुख अधीनस्थ/एकदिवसीय परीक्षाओं के लिये काफी महत्त्वपूर्ण हैं। इससे आपकी बिना अतिरिक्त मेहनत के अन्य परीक्षाओं की भी तैयारी हो जाएगी और बीपीएससी पर मुख्य फोकस भी बना रहेगा। इस सीरीज़ की प्रत्येक पुस्तक लगभग 400-600 पृष्ठों की है। प्रथमद्रष्टया आपको यह आकार बड़ा लग सकता है लेकिन ऐसा इसलिये है ताकि एक ही स्रोत से आपकी पूरी तैयारी हो सके। जब आप इसे पढ़ेंगे तो इस बात को महसूस कर पाएंगे।

अब, प्रस्तुत पुस्तक की बात करें तो यह राजव्यवस्था एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंध के संपूर्ण पाठ्यक्रम को कवर करती है। विशेषज्ञों की हमारी टीम ने इस विषय से संबंधित सभी महत्त्वपूर्ण मानक पुस्तकों का अध्ययन कर आयोग की मांग के अनुरूप उसके सार को (बिहार के विशेष संदर्भ में) प्रस्तुत किया है। हमारी टीम ने अब तक पूछे गए प्रश्नों का भी गंभीरता से अवलोकन किया है तथा पाठ्य-सामग्री को इसी अनुरूप ढाला है। प्रत्येक अध्याय के अंत में विगत वर्षों में पूछे गए प्रश्नों के साथ-साथ भविष्य के लिये संभावित प्रश्नों का भी संकलन किया गया है। इससे आपको न केवल परीक्षा की प्रकृति का अनुमान हो सकेगा बल्कि आप पढ़े हुए पाठ को रिवाइज़ भी कर सकते हैं। तथ्यों की सटीकता के लिये हमारी टीम ने कई चरणों में इसे जाँचा है तथा इस बात को सुनिश्चित किया है कि पुस्तक तथ्यात्मक त्रुटियों से मुक्त हो। भाषा और प्रस्तुतीकरण के स्तर पर भी हमारी कोशिश यही रही है कि संप्रेषण सहज और बोधगम्य हो।

अंत में यह कि अब यह पुस्तक आपके हाथों में है। इसके अंतिम निर्णयकर्त्ता भी आप ही हैं। आप इसे पढ़ें और अपनी राय हमें बताएँ। इससे हमें और बेहतर करने की प्रेरणा मिलती है। **आप अपनी राय हमें 8130392355 नंबर पर वाट्सएप मैसेज के माध्यम से भेज सकते हैं।**

साभार,

प्रधान संपादक

दृष्टि पब्लिकेशन्स

अनुक्रम

खंड A भारत एवं बिहार की राजव्यवस्था

1. राजव्यवस्था का परिचय ..... 3 – 15
2. भारतीय संविधान : एक परिचय ..... 16 – 34
3. संविधान की प्रस्तावना ..... 35 – 38
4. संघ और उसका राज्यक्षेत्र ..... 39 – 55
5. नागरिकता ..... 56 – 63
6. मूल अधिकार ..... 64 – 99
7. राज्य के नीति-निदेशक सिद्धांत ..... 100 – 106
8. मूल कर्त्तव्य ..... 107 – 109
9. केंद्र (संघ) की कार्यपालिका ..... 110 – 130
10. राज्य की कार्यपालिका ..... 131 – 149
11. केंद्र (संघ) की विधायिका ..... 150 – 188
12. राज्य विधायिका ..... 189 – 205
13. न्यायपालिका ..... 206 – 244
14. केंद्र-राज्य संबंध ..... 245 – 264
15. विकेंद्रीकरण एवं लोकतांत्रिक शासन में जनभागीदारी ..... 265 – 294
16. आपातकालीन उपबंध ..... 295 – 301
17. संविधान का संशोधन ..... 302 – 308
18. लोकतंत्र की कार्यप्रणाली ..... 309 – 326
19. पारदर्शिता, जवाबदेही और अधिकार ..... 327 – 343
20. लोक सेवाएँ ..... 344 – 354
21. वित्तीय नियंत्रण एवं संसदीय समितियाँ ..... 355 – 363
22. लोक नीति एवं अधिकार ..... 364 – 370
23. वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य ..... 371 – 382

खंड B अंतर्राष्ट्रीय संबंध

24. भारत का अन्य देशों से संबंध तथा प्रमुख संगठन एवं संस्थाएँ ..... 3 – 38

खंड A

बिहार एवं भारत की राजव्यवस्था

1 राजव्यवस्था का परिचय
(Introduction of Polity)

'राज्य' राजव्यवस्था से जुड़ी सबसे प्राथमिक अवधारणा है। यूँ तो 'राज्य' शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रांतों, जैसे- राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ आदि को सूचित करने के लिये होता है, परंतु इसका वास्तविक अर्थ किसी प्रांत से न होकर किसी समाज की 'राजनीतिक संरचना' से होता है। वस्तुत: यह एक अमूर्त अवधारणा है अर्थात् इसे बौद्धिक स्तर पर समझा जा सकता है, किंतु देखा नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ- भारत सरकार, राज्य सरकारें, न्यायापालिका, विधायिका, नौकरशाही से जुड़े अधिकारी आदि समग्र संरचना ही 'राज्य' कहलाती है।

किसी भी 'राज्य' के होने की शर्त है कि उसमें निम्नलिखित चार तत्त्व विद्यमान हों-

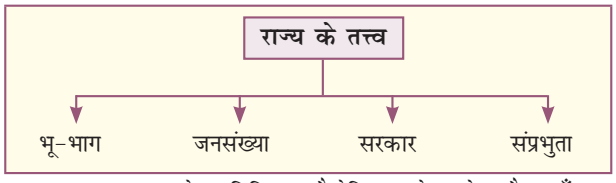

- **भू-भाग:** एक ऐसा निश्चित भौगोलिक प्रदेश होता है जहाँ उस राज्य की सरकार अपनी राजनीतिक क्रियाएँ करती है।
- **जनसंख्या:** राज्य के भू-भाग पर निवास करने वाला एक ऐसा जनसमुदाय होना चाहिये, जो राजनीतिक व्यवस्था के अनुसार संचालित होता हो।
- **सरकार:** सरकार एक या एक से अधिक व्यक्तियों का वह समूह है, जो व्यावहारिक स्तर पर राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करता है
- **संप्रभुता या प्रभुसत्ता:** संप्रभुता से तात्पर्य है कि राज्य के पास अर्थात् उसकी सरकार के पास अपने भू-भाग और जनसंख्या की सीमाओं के भीतर कोई भी निर्णय करने की पूरी शक्ति होनी चाहिये तथा उसे किसी भी बाहरी और भीतरी दबाव में निर्णय करने के लिये बाध्य नहीं होना चाहिये।

राज्य के ये चारों तत्त्व अनिवार्य हैं, वैकल्पिक नहीं। इन तत्त्वों में से किसी एक भी तत्त्व का अभाव होने पर 'राज्य' की अवधारणा निरर्थक हो जाती है। सरकार नामक तत्त्व का जहाँ तक प्रश्न है तो यह राज्य की व्यावहारिक एवं मूर्त अभिव्यक्ति है। संप्रभुता राज्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

राजनीतिक व्यवस्था की आवश्यकता क्यों है? (Why Political System is Required?)

कुछ लोग मानते हैं कि मनुष्य को राजनीतिक व्यवस्था की ज़रूरत है ही नहीं। राजनीतिक व्यवस्था तो मनुष्य के इतिहास की गलतियों का एक परिणाम है। यदि सारे मनुष्य समझदारी और पारस्परिक विश्वास से काम करें तो राजनीतिक व्यवस्था की ज़रूरत अपने आप खत्म हो जाती है। ऐसा मानने वालों में कार्ल मार्क्स तथा अन्य मार्क्सवादी विचारक तो थे ही, स्वयं महात्मा गांधी भी मानते थे कि जब समाज के प्रत्येक सदस्य को 'आत्मिक उन्नति' का पर्याप्त अवसर मिलेगा तो राजनीतिक व्यवस्था की ज़रूरत नहीं रहेगी।

किंतु कुछेक लोगों की राय छोड़ दें तो अधिकांश विचारकों की सोच यही है कि राज्य का अस्तित्व मनुष्य के लिये ज़रूरी होता है। इसकी प्रमुख वजह यही मानी गई है कि मनुष्य चाहे जितना भी विवेकशील प्राणी हो, वह कभी-कभी या आम तौर पर अपने स्वार्थ के अधीन होता है तथा दूसरे व्यक्तियों से उसके टकराव की स्थितियाँ बनती रहती हैं। राज्य का ढाँचा सभी मनुष्यों को एक निश्चित कानून-व्यवस्था के दायरे में ले आता है, ताकि अपनी मूल असुरक्षाओं से मुक्त होकर सभी एक सहज जीवन व्यतीत कर सकें। यदि राज्य और कानून नहीं होंगे तो समाज के ताकतवर लोग कमज़ोर लोगों पर शक्ति का दुरुपयोग करेंगे और कमज़ोर लोग हमेशा भय में रहेंगे, अपने व्यक्तित्व का सहज विकास नहीं कर सकेंगे। चूँकि राजनीतिक व्यवस्था के पास किसी भी व्यक्ति, समुदाय या संस्था से ज़्यादा ताकत होती है, इसलिये वह ऐसी सभी अनुचित शक्तियों पर नियंत्रण कर सकती है।

मानव समाज को सचमुच राजनीतिक व्यवस्था की आवश्यकता है, इसका एक प्रमाण बहुत स्पष्ट है। इतिहासकारों और मानवशास्त्रियों (Anthropologists) ने अभी तक प्राचीन-से-प्राचीन और सरल-से-सरल जितने भी समाजों का अध्ययन किया है, उन सभी में किसी-न-किसी रूप में राजनीतिक ढाँचे की उपस्थिति देखी गई है, चाहे वह ढाँचा राजतंत्र का, लोकतंत्र का या तानाशाही का हो।

यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि आज के समय में राजनीतिक व्यवस्था की भूमिका काफी ज़्यादा बढ़ गई है। इतना ही नहीं, आज की राजनीतिक व्यवस्था सिर्फ कानून का पालन करवाने तक सीमित नहीं है, अब उसने लोक-कल्याणकारी राज्य का रूप धारण कर लिया है और समाज के सभी वर्गों को स्वतंत्रता, समानता और न्याय उपलब्ध कराना अब उसकी ज़िम्मेदारी हो गई है।

जहाँ तक भारत में राजनीतिक प्रणाली का प्रश्न है, इसकी आवश्यकता को कई स्तरों पर महसूस किया जा सकता है, जैसे-

- भारत में राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया अभी चल रही है।
- भारत की आंतरिक सुरक्षा के समक्ष अभी कई चुनौतियाँ हैं, जैसे- आतंकवाद, नक्सलवाद, अलगाववाद इत्यादि।
- भारत एक कल्याणकारी राज्य है और यह वंचित वर्गों को आरक्षण तथा सामाजिक न्याय जैसी नीतियों के माध्यम से समानता की स्थिति में लाने के लिये गंभीर प्रयास कर रहा है।
- भारत में विभिन्न हित-समूह रहते हैं, जिनके बीच अपने हितों को लेकर टकराव होना स्वाभाविक है। इन हितों में सामंजस्य करते हुए उचित कानूनों के निर्माण के लिये संसद की ज़रूरत है, जबकि ऐसे

4. 'राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार है।' उक्त कथन किस विचारक का है?
(a) हीगेल (b) अरस्तू
(c) प्लेटो (d) ग्रीन
Bihar SI (Mains), 2018

5. लोकतंत्र के बारे में निम्न कथनों पर विचार करें-
(i) इसमें लोगों द्वारा निर्वाचित सरकार का गठन होता है।
(ii) लोकतंत्र में वर्तमान में सत्तासीन लोगों के हारने की संभावना काफी होती है।
(iii) प्रत्येक मत का मूल्य एक ही होता है।
उपर्युक्त कथनों में से कौन-सा/से सही है/हैं?
(a) केवल (i) एवं (iii) (b) (i), (ii), (iii)
(c) केवल (ii) (d) केवल (ii) एवं (iii)
Bihar SI (Pre.), 2018

6. निम्नलिखित कथनों पर विचार कीजिये-
(i) सरकार राज्य की व्यावहारिक अभिव्यक्ति है।
(ii) राज्य से अभिप्राय किसी समाज की राजनीतिक संरचना से है।
(iii) राज्य एक मूर्त धारणा है।
उपर्युक्त कथनों में से कौन-सा/से सत्य है/हैं?
(a) (i) और (ii) (b) (ii) और (iii)
(c) (i) और (iii) (d) (i), (ii) और (iii)

7. कौन-सी व्यवस्था 'अविनाशी राज्यों का अविनाशी संगठन' कही जाती है?
(a) परिसंघात्मक व्यवस्था (b) एकात्मक व्यवस्था
(c) संघात्मक व्यवस्था (d) न्यायपालिका व्यवस्था
(e) उपुर्यक्त में से कोई नहीं/उपर्युक्त में से एक से अधिक

8. 'अविनाशी राज्यों का विनाशी संगठन' कही जाने वाली व्यवस्था है-
(a) परिसंघात्मक व्यवस्था (b) संघात्मक व्यवस्था
(c) एकात्मक व्यवस्था (d) न्यापालिका व्यवस्था
(e) उपुर्यक्त में से कोई नहीं/उपर्युक्त में से एक से अधिक

9. वह राजनीतिक प्रणाली, जिसमें प्रांतों या कार्यकारी इकाइयों का निर्माण संघ की इच्छा पर निर्भर है-
(a) संघात्मक व्यवस्था (b) परिसंघात्मक व्यवस्था
(c) एकात्मक व्यवस्था (d) उपर्युक्त सभी

10. निम्नलिखित में से कौन-सा अध्यक्षीय प्रणाली का गुण नहीं है?
(a) विशेषज्ञों की भूमिका
(b) शक्ति पृथक्करण तथा नियंत्रण व संतुलन का प्रभावी ढंग से पाया जाना
(c) त्वरित निर्णय की क्षमता
(d) दैनिक उत्तरदायित्व
(e) उपुर्यक्त में से कोई नहीं/उपर्युक्त में से एक से अधिक

11. निम्नलिखित में से कौन-सा संसदीय प्रणाली का गुण नहीं है?
(a) कार्यपालिका का निर्माण विधायिका में से होता है।
(b) कार्यकाल की निश्चितता नहीं है अर्थात् स्थायित्व नहीं होता।
(c) विपक्ष के दबाव के कारण सरकार सतर्क रहती है।
(d) राष्ट्रपति वास्तविक राज्याध्यक्ष होता है।
(e) उपुर्यक्त में से कोई नहीं/उपर्युक्त में से एक से अधिक

12. राज्य के लिये अनिवार्य तत्त्व हैं-
(i) जनसंख्या (ii) सरकार
(iii) संप्रभुता (iv) भू-भाग
कूट:
(a) (i), (ii) और (iii) (b) (ii), (iii) और (iv)
(c) (i), (ii) और (iv) (d) (i), (ii), (iii) और (iv)

13. भारत में लोकतंत्र है-
(a) एकदलीय (b) द्विदलीय
(c) (a) और (b) दोनों (d) बहुदलीय

14. 'लोकतंत्र जनता का, जनता के द्वारा तथा जनता के लिये शासन है।' यह कथन किसका है?
(a) अब्राहम लिंकन
(b) बी.एल. ग्रोवर
(c) महात्मा गांधी
(d) जॉर्ज वाशिंगटन
(e) उपुर्यक्त में से कोई नहीं/उपर्युक्त में से एक से अधिक

उत्तरमाला

1. (e)	2. (c)	3. (a)	4. (a)	5. (b)
6. (a)	7. (c)	8. (a)	9. (c)	10. (d)
11. (d)	12. (d)	13. (d)	14. (a)	

बिहार पीसीएस (BPSC) मुख्य परीक्षा में पूछे गए एवं संभावित प्रश्न

1. भारतीय लोकतंत्र में उभरती प्रवृत्तियों का विश्लेषण कीजिये।
2. वर्तमान में भारतीय बहुदलीय प्रणाली 'द्वि-गठबंधनात्मक व्यवस्था' की ओर बढ़ रही है न कि द्विदलीय व्यवस्था की ओर, इस कथन को स्पष्ट कीजिये।
3. संसदीय और अध्यक्षीय शासन प्रणाली में कौन बेहतरीन है? अपने उत्तर के पक्ष में प्रमाण दें।
4. लोकतंत्र से आप क्या समझते हैं? जनता और शासन संपर्क के आधार पर लोकतंत्र के प्रकारों की विवेचना करें।
5. भारतीय संविधान निर्माताओं ने शासन की बहुदलीय प्रणाली को अपनाया, इसके पीछे के कारणों को स्पष्ट करें।

2 भारतीय संविधान : एक परिचय
(Indian Constitution : An Introduction)

प्रत्येक संविधान उस देश के आदर्शों, उद्देश्यों व मूल्यों का दर्पण होता है। संवैधानिक विधि देश की सर्वोच्च विधि होती है तथा सभी अन्य विधियाँ इसी पर आधारित होती हैं। भारतीय संविधान एक जड़ दस्तावेज़ नहीं है बल्कि यह परिवर्तनशील है, जिसमें ज़रूरत पड़ने पर संशोधन भी किया जा सकता है, जिससे इसकी प्रासंगिकता बनी रहती है।

संविधान नियमों-उपनियमों का एक ऐसा लिखित दस्तावेज़ होता है, जिसके अनुसार सरकार का संचालन किया जाता है। यह देश की राजनीतिक व्यवस्था का बुनियादी ढाँचा निर्धारित करता है। संविधान राज्य की विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की स्थापना, उनकी शक्तियों एवं दायित्वों का सीमांकन तथा जनता और राज्य के मध्य संबंधों को विनियमित करता है।

संविधान सभा तथा संविधान का निर्माण
(Constituent Assembly and the Making of Constitution)

आम तौर पर किसी भी प्रभुसत्तासंपन्न लोकतांत्रिक देश में उसके संविधान के निर्माण का कार्य एक जनप्रतिनिधि संस्था द्वारा किया जाता है, जो संविधान के विभिन्न पक्षों, उद्देश्यों, प्रावधानों आदि पर विचार करती है तथा संविधान बन जाने के बाद उसे अंगीकार भी करती है। इस प्रकार की संस्था को 'संविधान सभा' कहते हैं। भारत का संविधान बनाने के लिये ऐसी सभा का निर्वाचन जुलाई-अगस्त 1946 में हुआ था।

संविधान सभा की मांग
(Demand for the Constituent Assembly)

भारत में संविधान सभा के सिद्धांत का दर्शन सर्वप्रथम लोकमान्य तिलक के निर्देशन में निर्मित स्वराज विधेयक (1895) में दिखता है। 1922 में महात्मा गांधी ने स्पष्ट कहा कि "भारत का संविधान भारतीयों की इच्छा के अनुसार निर्मित होगा" तथा 1924 में मोतीलाल नेहरू ने संविधान सभा की मांग ब्रिटिश सरकार के समक्ष रखी। इन प्रयासों के बावजूद औपचारिक रूप से संविधान सभा के लिये विचार का प्रतिपादन एम.एन. राय ने 1934 में किया, जिसे लोकप्रिय बनाने और मूर्त रूप देने का कार्य 1938 में जवाहरलाल नेहरू ने किया। कॉन्ग्रेस द्वारा भी समय-समय पर संविधान सभा की मांग को उठाया गया। स्वाधीनता संग्राम के दौरान भारत के नेताओं ने लगातार इस बात की मांग की थी कि भारत के स्वतंत्र होने पर भारत की जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संविधान सभा द्वारा देश के संविधान का निर्माण किया जाना चाहिये। शुरू में अंग्रेज़ सरकार इस पर सहमत नहीं थी किंतु स्वाधीनता संग्राम के अंतिम दौर में (दूसरे विश्वयुद्ध की शुरुआत के समय) उसे स्वीकार करना पड़ा कि भारत का संविधान भारतवासी ही तैयार करेंगे। 1942 में ब्रिटिश सरकार के कैबिनेट मंत्री सर स्टैफर्ड क्रिप्स द्वारा प्रस्तुत 'क्रिप्स मिशन योजना' के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार ने आश्वासन दिया कि "भारत में एक निर्वाचित संविधान सभा होगी, जो युद्ध के बाद भारत का संविधान तैयार करेगी।" किंतु मुस्लिम लीग ने क्रिप्स प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। उसकी मांग थी कि भारत को दो स्वायत्त हिस्सों में बाँटकर दोनों हिस्सों के लिये अलग-अलग संविधान सभा बनाई जानी चाहिये। क्रिप्स मिशन के विफल होने के बाद 1946 में जब कैबिनेट मिशन (सदस्य: स्टेफोर्ड क्रिप्स, ए.वी. अलेक्जेंडर, पैथिक लारेंस) भारत आया तो संविधान सभा के गठन का मार्ग तैयार हो गया क्योंकि कैबिनेट मिशन ने दो संविधान सभाओं की मांग को ठुकराने के बाद भी सांप्रदायिक आधार पर निर्वाचन के सिद्धांत को मान लिया था, जिसने मुस्लिम लीग को काफी हद तक संतुष्ट कर दिया।

भारतीय संविधान के निर्माण में संविधान सभा तथा संविधान निर्माण समितियों की प्रमुख भूमिका रही। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य घटनाओं की भी इसमें प्रमुख भूमिका रही है, जैसे–

अंतरिम सरकार का गठन
(Formation of Interim Government)

कैबिनेट मिशन द्वारा प्रस्तुत योजना के तहत 24 अगस्त, 1946 को अंतरिम सरकार की घोषणा की गई और 2 सितंबर, 1946 को नेहरू के नेतृत्व में अंतरिम सरकार गठित हुई, जिसमें मुस्लिम लीग की भागीदारी नहीं थी परंतु 26 अक्टूबर, 1946 को मुस्लिम लीग सरकार में शामिल हो गई। इसके लिये मंत्रिपरिषद में शामिल तीन सदस्यों सैयद अली जहीर, शरतचंद्र बोस, सर शाफत अहमद खाँ को हटाकर लीग के पाँच प्रतिनिधियों को इसमें शामिल किया गया। **यहाँ मुस्लिम लीग के प्रवेश का उद्देश्य मंत्रिपरिषद के भीतर रहकर पाकिस्तान के लिये लड़ना था।**

अंतरिम मंत्रिमंडल

- **लॉर्ड माउंटबेटन- अध्यक्ष**
- जवाहरलाल नेहरू- **उपाध्यक्ष,** विदेशी मामले तथा राष्ट्रमंडल
- वल्लभ भाई पटेल- गृह, सूचना और प्रसारण
- जॉन मथाई- उद्योग तथा आपूर्ति विभाग
- बलदेव सिंह- रक्षा विभाग
- सी. राजगोपालाचारी- शिक्षा विभाग
- राजेंद्र प्रसाद- खाद्य एवं कृषि विभाग
- सी.एच. भाभा- कार्य, खान तथा ऊर्जा
- आसफ अली- रेलवे विभाग
- जगजीवन राम- श्रम विभाग
- लियाकत अली खाँ- वित्त विभाग
- अब्दुल रब निश्तार- संचार विभाग
- जोगेंद्र नाथ मंडल- विधि विभाग
- गजनफर अली खाँ- स्वास्थ्य विभाग
- आई.आई. चुँदरीगर- वाणिज्य विभाग

3 संविधान की प्रस्तावना
(Preamble of the Constitution)

प्रस्तावना या उद्देशिका किसी संविधान के दर्शन को सार रूप में प्रस्तुत करने वाली संक्षिप्त अभिव्यक्ति होती है। सर्वप्रथम अमेरिकी संविधान निर्माताओं ने अपने संविधान में प्रस्तावना को शामिल किया था। इसके बाद जैसे-जैसे विभिन्न देशों ने अपने संविधान का निर्माण किया, उनमें से कई देशों ने प्रस्तावना को महत्त्वपूर्ण समझकर अपने संविधान का हिस्सा बनाया। भारतीय संविधान सभा ने 22 जनवरी, 1947 को नेहरू के उद्देश्य प्रस्ताव को स्वीकार किया। इसी उद्देश्य प्रस्ताव का विकसित रूप हमारे संविधान की प्रस्तावना (उद्देशिका) है। उद्देश्य प्रस्ताव और प्रस्तावना मिलकर संविधान के दर्शन को मूर्त रूप प्रदान करते हैं।

केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य के मामले में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट किया है कि प्रस्तावना संविधान का अंग है क्योंकि जब अन्य सभी उपबंध अधिनियमित किये जा चुके थे, उसके पश्चात् प्रस्तावना को अलग से पारित किया गया। संविधान के अन्य भागों की तरह प्रस्तावना में भी संशोधन संभव है, बशर्ते वह आधारभूत ढाँचे को क्षति न पहुँचाता हो।

प्रस्तावना (उद्देशिका)

हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न, समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिये तथा उसके समस्त नागरिकों को-

- सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक **न्याय**,
- विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की **स्वतंत्रता**,
- प्रतिष्ठा और अवसर की **समता** प्राप्त कराने के लिये,
- तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा, राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने वाली **बंधुता** बढ़ाने के लिये
- दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवंबर, 1949 (मिती मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को **एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

प्रस्तावना की विषयवस्तु (Content of the Preamble)

1976 में 42वें संविधान संशोधन के माध्यम से प्रस्तावना में तीन शब्द- **समाजवादी (Socialist)**, **पंथनिरपेक्ष (Secular)** तथा **अखंडता (Integrity)** जोड़े गए थे। इन शब्दों के जुड़ने के बाद प्रस्तावना का वर्तमान रूप इस प्रकार है-

प्रस्तावना की उपयोगिता (Utility of the Preamble)

भारतीय संविधान की प्रस्तावना को **संविधान की आत्मा** कहा गया है। संविधान की प्रस्तावना संविधान की व्याख्या का आधार प्रस्तुत करती है। यह संविधान का दर्पण है, जिसमें पूरे संविधान की तस्वीर दिखाई पड़ती है। इसकी उपयोगिता है कि यह संविधान के स्रोत, राजव्यवस्था की प्रकृति एवं संविधान के उद्देश्यों से परिचय कराती है। इसके साथ ही संविधान के अर्थ निर्धारण में एवं ऐतिहासिक स्रोत के रूप में भी प्रस्तावना उपयोगी है।

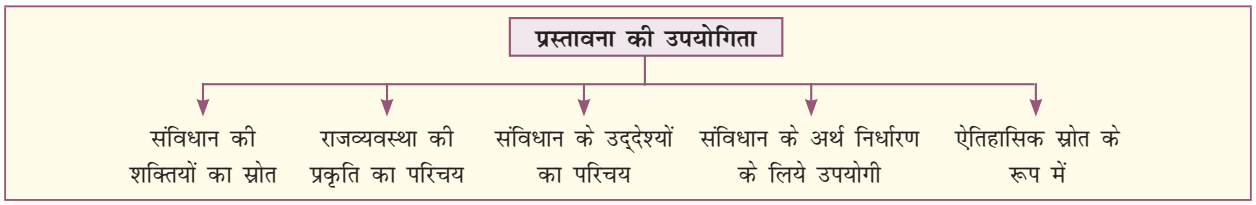

संविधान की शक्तियों का स्रोत *(Sources of constitution)*

संविधान की प्रस्तावना में प्रयुक्त वाक्यांश 'हम भारत के लोग' प्रमाणित करता है कि भारतीय संविधान की शक्तियों का स्रोत भारतीय जनता है। यह भारतीय राज्यव्यवस्था के लोकतांत्रिक पक्ष को भी प्रस्तुत करता है।

राजव्यवस्था की प्रकृति का परिचय *(Introduction of the nature of polity)*

भारतीय राजव्यवस्था की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिये प्रस्तावना में पाँच शब्द विशेष महत्त्व के हैं-

1. **संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न:** इसका अर्थ है कि अपने आंतरिक और बाह्य मामलों में निर्णय लेने के लिये भारत संपूर्ण शक्ति रखता है और किसी भी विदेशी शक्ति को इसमें हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। जहाँ तक राष्ट्रकुल का प्रश्न है तो भारत उसे 'स्वाधीन राष्ट्रों के एक संगठन' के रूप में देखता है, न कि ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के रूप में। भारत ब्रिटिश सम्राट को राष्ट्रकुल के अध्यक्ष के रूप में सिर्फ प्रतीकात्मक तौर पर स्वीकार करता है।
2. **समाजवादी:** यह शब्द प्रस्तावना में 42वें संशोधन, 1976 द्वारा जोड़ा गया। भारत आर्थिक न्याय की धारणा को लोकतंत्र के साथ

4 संघ और उसका राज्यक्षेत्र (Union and it's Territory)

वर्तमान में भारत में 28 राज्य तथा 8 संघ राज्यक्षेत्र हैं। भारतीय संविधान के भाग-1 (अनुच्छेद 1 से 4) में इस प्रावधान का उल्लेख किया गया है कि भारत राज्यक्षेत्र (Indian Territory) में किस प्रकार की इकाइयाँ होंगी तथा उनका भारत संघ (Union of India) के साथ क्या संबंध होगा। इस भाग को सही रूप में समझने के लिये हम सभी अनुच्छेदों पर क्रमशः विचार करेंगे।

संघ व उसके राज्यक्षेत्र या भारत राज्य की प्रकृति से संबंधित अनुच्छेद (Articles Related to the Union and its Territory or Nature of India State)

संघ व उनके राज्यक्षेत्र से संबंधित या भारत राज्य की प्रकृति से संबंधित अनुच्छेद निम्नलिखित हैं-

अनुच्छेद 1 *(Article 1)*

- संविधान के अनुच्छेद 1(1) में कहा गया है कि भारत अर्थात् इंडिया राज्यों का संघ होगा (India, that is Bharat shall be a Union of States)। संविधान सभा में देश के नाम के मुद्दे पर काफी चर्चा हुई थी। जो लोग भारत की प्राचीन परंपरा और संस्कृति पर बल दे रहे थे, उनकी इच्छा थी कि देश का नाम 'भारत' होना चाहिये। दूसरी ओर कुछ नेताओं की राय थी कि 'इंडिया' नाम से भारत को पूरे विश्व में पहचाना जाता है तथा यह आधुनिक नाम है, इसलिये देश का नाम इंडिया ही होना चाहिये। चूँकि संविधान सभा विवाद के मामलों में सर्वसम्मति न हो पाने की दशा में समायोजन के सिद्धांत के अनुरूप कार्य करती थी, इसलिये उसने दोनों ही नामों को शामिल कर लेना उचित समझा। अतः इस अनुच्छेद से स्पष्ट है कि हमारे देश का औपचारिक नाम इंडिया है। इस अनुच्छेद में उल्लिखित यूनियन (Union) शब्द का प्रयोग करने के कारण को स्पष्ट करते हुए डॉ. भीमराव अंबेडकर ने कहा था-
  - भारत विभिन्न राज्यों के मध्य किसी समझौते का परिणाम नहीं है।
  - किसी भी राज्य को भारत संघ से पृथक् होने का अधिकार नहीं है।
- अनुच्छेद 1(2) में उल्लेख है कि राज्य और राज्यक्षेत्र वे होंगे जो संविधान की पहली अनुसूची में विनिर्दिष्ट हैं।
- अनुच्छेद 1(3) के अनुसार भारत के राज्यक्षेत्र में-
  - राज्यों के राज्यक्षेत्र
  - पहली अनुसूची में विनिर्दिष्ट संघ राज्यक्षेत्र और
  - ऐसे अन्य राज्यक्षेत्र जो अर्जित किये जाएँ, समाविष्ट होंगे।

प्रत्येक प्रभुत्व-संपन्न 'राष्ट्र' को नए राज्यक्षेत्रों के अर्जन का अधिकार होता है। ऐसे अर्जन हेतु विधि बनाने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि अर्जन अंतर्राष्ट्रीय विधि द्वारा अनुमोदित रीति से होता है, जैसे- युद्ध में जीतकर, संधि के अनुसरण में, अध्यर्पण द्वारा या स्वामीविहीन भूमि पर कब्ज़ा करके। अर्जन के पश्चात् वह राज्यक्षेत्र भारत का अंग हो जाता है और केंद्रशासित प्रदेश (संघ राज्यक्षेत्र) की तरह शासित होता है।

जैसा कि पहले बताया गया है, भारत द्वारा अर्जित राज्यक्षेत्रों की सूची में वर्तमान में कोई क्षेत्र शामिल नहीं है। जब भारत ने पुदुच्चेरी, कराइकल, माहे और यनम को फ्राँस से अर्जित किया था, तो 1954 से 1962 तक उन क्षेत्रों को अर्जित राज्यक्षेत्रों के रूप में प्रशासित किया जाता रहा था क्योंकि फ्राँसीसी संसद ने तब तक अध्यर्पण की संधि को अनुमोदित नहीं किया था। 1962 के बाद ये क्षेत्र संघ राज्यक्षेत्र बन गए। इनके अलावा, भारत ने समय-समय पर कुछ और भी विदेशी क्षेत्रों को अर्जित किया है, जैसे- गोवा, दमन व दीव, दादरा और नागर हवेली, सिक्किम इत्यादि। किंतु अब ये सारे क्षेत्र राज्यों या संघ राज्यक्षेत्रों की सूची में ही शामिल हो चुके हैं, कोई भी अर्जित राज्यक्षेत्रों में शामिल नहीं है।

भारत का राज्यक्षेत्र *(Territory of India)*

राज्य (States)

वर्तमान में प्रथम अनुसूची में 28 राज्यों का उल्लेख है। इसमें राज्यों का क्रम वही है, जो कि संविधान में निर्दिष्ट किया गया है- 1. आंध्र प्रदेश, 2. असम, 3. बिहार, 4. गुजरात, 5. केरल, 6. मध्य प्रदेश, 7. तमिलनाडु, 8. महाराष्ट्र, 9. कर्नाटक, 9. ओडिशा, 11. पंजाब, 12. राजस्थान, 13. उत्तर प्रदेश, 14. पश्चिम बंगाल, 15. नगालैंड, 16. हरियाणा, 17. हिमाचल प्रदेश, 18. मणिपुर, 19. त्रिपुरा, 20. मेघालय, 21. सिक्किम, 22. मिज़ोरम, 23. अरुणाचल प्रदेश, 24. गोवा, 25. छत्तीसगढ़, 26. उत्तराखंड, 27. झारखंड, 28. तेलंगाना।

संघ राज्यक्षेत्र (Union Territories)

वर्तमान में जम्मू-कश्मीर राज्य के पुनर्गठन तथा दादरा एवं नागर हवेली और दमन एवं दीव के विलय के पश्चात् केंद्रशासित प्रदेशों की संख्या 8 हो गई है जिनके नाम प्रथम अनुसूची के दूसरे हिस्से में दिये गए हैं। इनका नाम तथा क्रम निम्नलिखित है- 1. दिल्ली, 2. अंडमान और निकोबार द्वीपसमूह, 3. लक्षद्वीप, 4. दादरा एवं नागर हवेली और दमन एवं दीव, 5. पुदुच्चेरी (कराइकल, माहे और यनम सहित), 6. चंडीगढ़, 7. जम्मू-कश्मीर, 8. लद्दाख।

नोट: जम्मू-कश्मीर राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 2019 से पहले और तेलंगाना राज्य के बनने के बाद भारत में 29 राज्य और 7 केंद्रशासित प्रदेश थे। इस जे. एंड के. पुनर्गठन अधिनियम के लागू होने के पश्चात् जम्मू-कश्मीर और लद्दाख दो नए केंद्रशासित प्रदेश बने जिससे केंद्रशासित प्रदेशों की संख्या 9 हो गई एवं राज्यों की संख्या 28 हो गई। इसी प्रकार आगे दादरा-नागर हवेली और दमन-दीव केंद्रशासित प्रदेश को मिलाकर एक केंद्रशासित प्रदेश बना दिया गया जिसे 26 जनवरी, 2020 से लागू कर दिया गया। इसके बाद केंद्रशासित प्रदेशों की संख्या 8 और राज्यों की संख्या 28 है, जो वर्तमान परिदृश्य है।

5 नागरिकता (Citizenship)

नागरिकता का सामान्य अर्थ व्यक्ति और राज्य के अंतर्संबंधों की उद्घोषणा है। यह मनुष्य की उस स्थिति का नाम है, जिसमें मनुष्य को नागरिक का स्तर प्राप्त होता है। नागरिक केवल ऐसे व्यक्ति को कहा जा सकता है, जिसे राज्य की ओर से सभी राजनीतिक और नागरिक अधिकार प्रदान किये गए हों और जो उस राज्य के प्रति विशेष निष्ठा रखता हो। नागरिकता में यह तथ्य भी सम्मिलित है कि व्यक्ति का अपने राष्ट्र/राज्य के प्रति स्थायी निष्ठा भाव तो हो ही, साथ में राज्य द्वारा व्यक्ति को सक्रिय भागीदारी हेतु कुछ अधिकार व कर्त्तव्य भी दिये जाएँ, जिनका प्रयोग वह स्वयं के सर्वांगीण विकास के साथ-साथ समाज कल्याण हेतु भी करे। अत: नागरिकता कतिपय व्यक्ति को दायित्व, अधिकार, कर्त्तव्य और विशेषाधिकार प्रदान करती है।

नागरिकता से संबंधित संवैधानिक उपबंध (Constitutional Provisions Related to Citizenship)

- भारतीय संविधान के भाग-2 में अनुच्छेद-5 से 11 में नागरिकता से संबंधित प्रावधान का उल्लेख है। ये प्रावधान स्पष्ट करते हैं कि इस राज्यक्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों में से भारत के नागरिक कौन होंगे? संविधान में नागरिकता संबंधी बहुत कम प्रावधान दिये गए हैं। इसमें केवल यह बताया गया है कि संविधान लागू होने के दिन किन व्यक्तियों को भारत का नागरिक माना जाएगा, जबकि बाद की स्थितियों के लिये नागरिकता संबंधी कानून बनाने की पूर्ण शक्ति संसद को दी गई है।

भाग-2 नागरिकता	
अनुच्छेद 5	– संविधान के प्रारंभ पर नागरिकता।
अनुच्छेद-6	– पाकिस्तान से भारत को प्रव्रजन करने वाले कुछ व्यक्तियों के नागरिकता के अधिकार।
अनुच्छेद-7	– पाकिस्तान को प्रव्रजन करने वाले कुछ व्यक्तियों के नागरिकता के अधिकार।
अनुच्छेद-8	– भारत के बाहर रहने वाले भारतीय उद्भव के कुछ व्यक्तियों के नागरिकता के अधिकार।
अनुच्छेद-9	– विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से अर्जित करने वाले व्यक्तियों का नागरिक न होना।
अनुच्छेद-10	– नागरिकों के अधिकारों का बना रहना।
अनुच्छेद-11	– संसद द्वारा नागरिकता के अधिकार का विधि द्वारा विनियमन किया जाना।

- भारत में एकल नागरिकता का प्रावधान है। भारत में अलग-अलग राज्यों के अनुसार नागरिकता का प्रावधान नहीं है, संपूर्ण भारत के लिये एक ही प्रकार की व्यवस्था है। गौरतलब है कि अमेरिका में दोहरी नागरिकता का प्रावधान है- स्टेट व फेडरेशन की पृथक्-पृथक् नागरिकताएँ।

संविधान के आरंभ पर नागरिकों के वर्ग *(Categories of Citizens in the Beginning of Constitution)*

अनुच्छेद 5 से 8 तक प्रत्येक में नागरिकों के एक विशेष वर्ग का उल्लेख किया गया है। संविधान बनने के बाद 26 जनवरी, 1950 को लागू संविधान के तहत निम्नलिखित चार श्रेणियों के लोग भारत के नागरिक बने-

1. **अधिवास द्वारा नागरिकता (Citizenship by domicile):** इसकी चर्चा अनुच्छेद 5 में की गई है। इस अनुच्छेद के अनुसार ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो संविधान के प्रारंभ के समय भारत के राज्यक्षेत्र में अधिवास करता है, वह भारत का नागरिक होगा, यदि वह निम्नलिखित तीन में से कोई एक शर्त पूरी करता हो–
   (क) वह भारत के राज्यक्षेत्र में जन्मा हो; अथवा
   (ख) उसके माता-पिता में से कोई एक भारत के राज्यक्षेत्र में जन्मा हो, अथवा
   (ग) वह संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले कम–से–कम 5 वर्षों तक साधारण तौर पर भारत का निवासी रहा हो।
2. **पाकिस्तान से प्रव्रजन (Migration) करके आए व्यक्तियों की नागरिकता:** संविधान के अनुच्छेद 6 में बताया गया है कि पाकिस्तान से प्रव्रजन करके आए व्यक्तियों में से किन्हें भारत का नागरिक समझा जाएगा? ऐसे व्यक्तियों को दो वर्गों में बाँटा गया है-
   (क) जो **19 जुलाई, 1948** से पहले भारत आ गए थे; तथा
   (ख) जो **19 जुलाई, 1948** को या उसके बाद भारत आए हैं।

   19 जुलाई, 1948 की तिथि का महत्त्व यह है कि इसी तिथि से भारत से पाकिस्तान और पाकिस्तान से भारत आने-जाने के लिये अनुमति पत्र (Permit) की प्रणाली शुरू की गई थी।

   अनुच्छेद 6 के अनुसार पाकिस्तान से भारत प्रव्रजन करने वाला कोई भी व्यक्ति भारत का नागरिक तभी समझा जाएगा, जब वह दो शर्तें पूरी करता हो–
   (क) उसका या उसके माता-पिता अथवा उसके दादा-दादी/नाना-नानी में से किसी का जन्म 'भारत शासन अधिनियम, 1935' द्वारा परिभाषित भारत के राज्यक्षेत्र में हुआ हो;
   (ख) दूसरी शर्त 19 जुलाई, 1948 से पहले और बाद में प्रव्रजन करने वालों के लिये अलग-अलग है। इस तिथि से पहले

6 मूल अधिकार (Fundamental Rights)

मूल अधिकार (मौलिक अधिकार) का अर्थ ऐसे अधिकारों से है जिनके द्वारा व्यक्ति अपना पूर्ण मानसिक, भौतिक और नैतिक विकास कर सके। मूल अधिकार संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान से लिये गए हैं। ये सापेक्षिक अधिकार हैं जो समय, स्थान, परिस्थिति विशेष में परिवर्तनशील होते हैं। मूल अधिकार देश की मूल विधि अर्थात् संविधान में उल्लेखित होते हैं। ये **संविधान द्वारा रक्षित और प्रवृत्त** होते हैं। मूल अधिकार सामान्यत: व्यक्ति के अधिकारों को बढ़ाते हैं तथा राज्य के अधिकारों को सीमित करते हैं।

मूल अधिकार का अर्थ (Meaning of Fundamental Rights)

मूल अधिकार उन अधिकारों को कहा जाता है जो व्यक्ति के जीवन के लिये आवश्यक होने के कारण संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं और जिनमें राज्य द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। ये ऐसे अधिकार हैं जो व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये आवश्यक हैं और जिनके बिना मुनष्य अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता। संविधान द्वारा बिना किसी भेदभाव के हर व्यक्ति के लिये मूल अधिकारों के संबंध में गारंटी दी गई है। वस्तुत: मौलिक अधिकार वे अधिकार हैं, जो व्यक्ति के भौतिक व नैतिक विकास के लिये अनिवार्य हैं, जिन्हें संविधान का विशेष संरक्षण प्राप्त है। संविधान का विशेष संरक्षण इन्हें तीन रूपों में प्राप्त है–

- मौलिक अधिकारों के उल्लंघन पर अनुच्छेद-32 के तहत सीधे सर्वोच्च न्यायालय जा सकते हैं।
- मूल अधिकारों में संशोधन विशेष बहुमत से ही किया जा सकता है।
- इनका निलंबन केवल एक प्रक्रिया के माध्यम से ही किया जा सकता है।

मूल अधिकारों की विशेषताएँ *(Characteristics of Fundamental Rights)*

मूल अधिकारों की पूर्णत: निश्चित विशेषताएँ बताना संभव नहीं है, क्योंकि विभिन्न देशों में उनकी प्रकृति भिन्न है। मोटे तौर पर, भारतीय राजव्यवस्था की दृष्टि से मूल अधिकारों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित मानी जा सकती हैं–

- संविधान में उल्लिखित तथा संविधान द्वारा रक्षित और प्रवृत्त।
- कार्यपालिका तथा विधानमंडल दोनों की शक्तियों पर नियंत्रण। इन अधिकारों का उल्लंघन करने वाली कोई विधि उस सीमा तक निष्प्रभावी या शून्य हो जाती है, जहाँ तक वह मूल अधिकारों का उल्लंघन करती है।
- मूल अधिकारों में परिवर्तन करने के लिये संविधान में संशोधन करना ज़रूरी होता है। कानूनी अधिकार के मामले में संविधान संशोधन की ज़रूरत सिर्फ तब होती है जब वह संविधान के द्वारा दिया गया हो। अगर कानूनी अधिकार किसी अधिनियम के माध्यम से दिया गया है तो उसमें साधारण बहुमत से ही संशोधन किया जा सकता है।

ध्यातव्य है कि सभी कानूनी अधिकार मूल अधिकार नहीं होते हैं, उदाहरण के लिये, उपभोक्ता अधिकार, संपत्ति का अधिकार, व्यापार और वाणिज्य की स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद-301)।

मूल अधिकार नकारात्मक भी हो सकते हैं और सकारात्मक भी; उनका स्वरूप प्राकृतिक अधिकारों (Natural rights) की तरह भी हो सकता है और सामान्य कानूनी या विधिक अधिकारों (Legal rights) की तरह भी। यह इस बात पर निर्भर करता है कि संबंधित देश की राजव्यवस्था का स्वरूप कैसा है। जहाँ तक भारतीय संविधान व राजनीतिक व्यवस्था का प्रश्न है, उसमें दिये गए मूल अधिकार इन सभी वर्गों में अलग-अलग मात्रा में समायोजित किये जा सकते हैं।

भारत में मूल अधिकारों की आवश्यकता (Need of Fundamental Rights in India)

संविधान सभा द्वारा संविधान में मूल अधिकारों की व्यवस्था किये जाने के कुछ विशेष कारण थे, जैसे–

- भारत की अधिकांश जनता निरक्षर होने के कारण अपने राजनीतिक हितों और अधिकारों को नहीं समझती थी, इसलिये यह खतरा लगातार विद्यमान था कि कहीं राज्य उसके मूल अधिकारों का हनन न कर दे।
- संसदीय शासन प्रणाली (Parliamentary System) में कार्यपालिका का विधायिका में बहुमत होता है जिसका अर्थ है कि सरकार संसदीय बहुमत का प्रयोग करते हुए मूल अधिकारों को छीनने वाला कानून बना सकती है।
- भारत में धार्मिक और जातीय वैविध्य काफी ज़्यादा है तथा अल्पसंख्यक वर्ग अपनी कम जनसंख्या के कारण सरकार के निर्माण में प्राय: कमज़ोर सिद्ध होता है। अत: बहुमत की तानाशाही से अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान करने के लिये।
- भारत में संघात्मक पद्धति (Federal System) को स्वीकार किया गया था और यह संभावना थी कि कहीं किसी प्रांत की सरकार नागरिकों के अधिकार न छीनने लगे।
- जनता को यह बोध हो जाए कि अब किसी भी व्यक्ति के पास विशेषाधिकार (Privileges) नहीं है। और सभी भारतीय नागरिक विधि के समक्ष समान हैं।
- कई ऐसे वर्ग (दलित, आदिवासी स्त्री) थे जो लंबे समय से वर्चस्वशाली वर्गों के हाथों दमन और शोषण का शिकार हो रहे थे। ऐसे वर्गों को मुख्यधारा में लाने के लिये मूल अधिकारों की व्यवस्था करना ज़रूरी था।

7 राज्य के नीति-निदेशक सिद्धांत (Directive Principles of State Policy)

संविधान के भाग 4 को राज्य के नीति-निदेशक तत्त्व (डी.पी. एस.पी.) शीर्षक दिया गया है। इसके अंतर्गत 36 से 51 तक के अनुच्छेद शामिल हैं। संविधान का यह भाग आयरलैंड के संविधान से प्रभावित है। इसके माध्यम से संविधान राज्य को बताता है कि उसे सामाजिक तथा आर्थिक न्याय सुनिश्चित करने के लिये नैतिक दृष्टि से किन पक्षों पर बल देना चाहिये।

नीति-निदेशक तत्त्वों का इतिहास (History of Directive Principles)

भारतीय संविधान में नीति-निदेशक तत्त्वों का विकास मूल अधिकारों के विकास के साथ ही हो गया था। संविधान सभा के सदस्यों में इस बात पर सहमति बन गई थी कि स्वतंत्र भारत में प्रत्येक व्यक्ति को मूल अधिकार तो दिये ही जाने चाहिये, साथ ही राज्य द्वारा ऐसे आदर्शों को साधने की कोशिश भी की जानी चाहिये जो सामाजिक न्याय के लिये वांछनीय हैं। इन सिद्धांतों को मूल अधिकारों के रूप में दिया जाना तत्कालीन परिस्थितियों में संभव नहीं था। ऐसे अधिकार, जिन्हें तत्काल देना संभव नहीं था, बी.एन. राव की सलाह पर नीति-निदेशक तत्त्वों की श्रेणी में रख दिये गए, ताकि जब सरकारें सक्षम हो जाएँ तब धीरे-धीरे इन उपबंधों को लागू करें। इन्हीं उपबंधों को संविधान के भाग 4 में रखा गया तथा राज्य के नीति-निदेशक सिद्धांत नाम दिया गया।

राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों की विशेषताएँ (Features of Directive Principles of State Policy)

- राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों से स्पष्ट होता है कि नीतियों एवं कानूनों को प्रभावशाली बनाते समय राज्य इन तत्त्वों को ध्यान में रखेगा। ये संवैधानिक निर्देश कार्यपालिका और प्रशासनिक मामलों में राज्य के लिये सिफारिशें हैं। अनुच्छेद 36 के अनुसार भाग 4 में 'राज्य' शब्द का वही अर्थ है, जो मूल अधिकारों से संबंधित भाग 3 में है।
  - ❑ डी.पी.एस.पी. पर गांधीवाद, समाजवाद तथा उदारवाद का प्रभाव है।
  - ❑ इसके द्वारा आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना की जाती है।
  - ❑ इसको लागू करने का दायित्व राज्य सरकार का है।
  - ❑ इसे न्यायालय द्वारा लागू नहीं कराया जा सकता।
- यह भारत शासन अधिनियम, 1935 में उल्लिखित अनुदेशों के समान है। डॉ. बी.आर. अंबेडकर के शब्दों में निदेशक तत्त्व अनुदेशों के समान हैं जो भारत शासन अधिनियम, 1935 के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार द्वारा गवर्नर जनरल और भारत की औपनिवेशिक कॉलोनियों के गवर्नरों को जारी किये जाते थे। जिसे निदेशक तत्त्व कहा जाता है, वह इन अनुदेशों का ही दूसरा नाम है।
- निदेशक तत्त्वों की प्रकृति न्यायोचित नहीं है। इनका हनन होने पर न्यायालय द्वारा इन्हें लागू नहीं कराया जा सकता। अतः सरकार (केंद्र, राज्य एवं स्थानीय) इन्हें लागू करने के लिये बाध्य नहीं है।
- राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों का उद्देश्य लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है।
- ये संविधान की प्रस्तावना में उद्धृत सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय तथा स्वतंत्रता, समानता और बंधुता की भावना पर आधारित हैं।
- ये वे विचार हैं, जिन्हें संविधान निर्माताओं ने भविष्य में बनने वाली सरकारों के समक्ष एक पथ-प्रदर्शक के रूप में रखा है।
- जनता के हित और आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के लिये नीति-निदेशक तत्त्वों को यथाशक्ति कार्यान्वित करना राज्य का कर्त्तव्य है।

निदेशक तत्त्वों का महत्त्व (Importance of Directive Principles)

- 'लोक-कल्याणकारी राज्य' की स्थापना करना।
- आर्थिक व सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना करना।
- भारत सरकार के कल्याणकारी कार्यों का आधार; अधिकांश योजनाएँ इससे प्रेरित हैं।
- इसमें संविधान का दर्शन निहित होता है।
- जब कभी न्यायपालिका के सम्मुख कोई संवैधानिक कठिनाई उत्पन्न हुई है, न्यायपालिका ने संविधान की प्रस्तावना तथा राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों को ध्यान में रखकर संविधान को समझने का प्रयास किया है।
- वर्तमान में उच्चतम न्यायालय के द्वारा जनहित याचिकाओं के अंतर्गत जीवन के अधिकार की विस्तृत व्याख्या की गई है और जीवन के अधिकार में आजीविका ही निदेशक तत्त्वों में वर्णित है।

विभिन्न विचारकों का राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों के संबंध में विचार *(Thoughts of Different Thinkers Regarding to the Directive Principles of State Policy)*

- **डॉ. अंबेडकर:** "नीति-निदेशक तत्त्वों का बहुत बड़ा मूल्य है। ये भारतीय राजव्यवस्था के लक्ष्य 'आर्थिक लोकतंत्र' को निर्धारित करते हैं जैसा कि 'राजनीतिक लोकतंत्र' में प्रकट होता है।"
- **ग्रेनविल ऑस्टिन:** "निदेशक तत्त्व सामाजिक क्रांति के उद्देश्यों की प्राप्ति के माध्यम हैं।"
- **बी.एन. राव:** "नीति-निदेशक तत्त्वों का राज्य प्राधिकारियों के लिये शैक्षिक महत्त्व है।"

8 मूल कर्त्तव्य (Fundamental Duties)

भारत के संविधान में मूल अधिकारों के साथ मूल कर्त्तव्यों (मौलिक कर्त्तव्यों) को भी शामिल किया गया है। वस्तुत: अधिकार और कर्त्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं। अधिकारविहीन कर्त्तव्य निरर्थक होते हैं, जबकि कर्त्तव्य विहीन अधिकार निरंकुशता पैदा करते हैं।

यदि व्यक्ति को 'गरिमापूर्ण जीवन' का अधिकार प्राप्त है तो उसका कर्त्तव्य बनता है कि वह अन्य व्यक्तियों के गरिमापूर्ण जीवन के अधिकार का भी ख्याल रखे। यदि व्यक्ति को 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' प्यारी है तो यह भी ज़रूरी है कि उसमें दूसरों की 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' के प्रति धैर्य और सहिष्णुता विद्यमान हो।

गौरतलब है कि संविधान निर्माताओं ने राज्य के कर्त्तव्यों को जरूरी समझते हुए 'राज्य के नीति-निदेशक तत्त्वों' के रूप में शामिल किया, जबकि नागरिकों के मूल कर्त्तव्यों को संविधान में जोड़ना आवश्यक नहीं समझा। रोचक बात यह है कि विश्व के अधिकांश लोकतांत्रिक देशों के संविधान में नागरिकों के कर्त्तव्यों का उल्लेख नहीं किया गया है, उनमें केवल मूल अधिकारों की घोषणा की गई है, जैसे– अमेरिका, फ्राँस, कनाडा आदि। कुछ साम्यवादी देशों में मूल कर्त्तव्यों की घोषणा करने की परंपरा दिखाई पड़ती है। भूतपूर्व सोवियत संघ का उदाहरण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भारतीय संविधान में उल्लिखित मूल कर्त्तव्य भूतपूर्व सोवियत संघ के संविधान से ही प्रभावित हैं।

भारतीय संविधान में मूल कर्त्तव्यों का इतिहास *(History of Fundamental Duties in Indian Constitution)*

भारतीय संविधान में भी प्रारंभ में मूल कर्त्तव्य शामिल नहीं थे। इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में 1975 ई. में आपातकाल की घोषणा की गई, तभी सरदार स्वर्ण सिंह के नेतृत्व में संविधान में उपयुक्त संशोधन सुझाने के लिये एक समिति का गठन किया गया था। इस समिति में सरदार स्वर्ण सिंह के अलावा ए.आर अन्तुले, एस.एस. रे, सी.एम. स्टीफन रजनी पटेल, एच.आर. गोखले, वी.एन. गाडगिल, वी.ए. सैयद मुहम्मद, डी.पी. सिंह, वसंत साठे, बी.एन. बनर्जी व दिनेश गोस्वामी शामिल थे। समिति द्वारा यह सुझाव दिया गया कि संविधान में मूल अधिकारों के साथ-साथ मूल कर्त्तव्यों का समावेश होना चाहिये। इसके पीछे समिति का तर्क यह था कि भारत में अधिकांश लोग सिर्फ अधिकारों पर बल देते हैं, वे यह नहीं समझते कि हर अधिकार किसी-न-किसी कर्त्तव्य के सापेक्ष होता है।

स्वर्ण सिंह समिति की अनुशंसाओं के आधार पर 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 के द्वारा संविधान के भाग 4 के पश्चात् भाग 4क अंत: स्थापित किया गया और उसके भीतर अनुच्छेद 51क को रखते हुए 10 मूल कर्त्तव्यों की सूची प्रस्तुत की गई। आगे चलकर 86वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2002 के माध्यम से एक और मूल कर्त्तव्य जोड़ा गया, जिसके तहत 6–14 वर्ष की आयु के बच्चों के माता-पिता या संरक्षक पर यह कर्त्तव्य आरोपित किया गया है कि वे अपने बच्चे अथवा प्रतिपाल्य को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्रदान करेंगे।

यद्यपि सरदार स्वर्ण सिंह समिति द्वारा दिये गए सुझावों में केवल आठ मूल कर्त्तव्यों को जोड़ने की सिफारिश की गई थी, जबकि 42वें संविधान संशोधन द्वारा 10 मूल कर्त्तव्यों को जोड़ा गया। हालाँकि समिति के कुछ सुझावों को सरकार द्वारा स्वीकार नहीं किया गया था। इनमें शामिल हैं-

- कर्त्तव्य अनुपालन के इनकार पर संसद द्वारा आर्थिक दंड या सजा का प्रावधान।
- कर अदायगी को मूल कर्त्तव्य मानना।
- कोई कानून मूल कर्त्तव्यों के अरुचिकर होने पर अदालत द्वारा किसी भी प्रकार के अर्थदंड या सज़ा का प्रावधान नहीं करेगा।

मूल कर्त्तव्यों की सूची *(List of Fundamental Duties)*

वर्तमान में संविधान के भाग 4क तथा अनुच्छेद 51क के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक के कुल 11 मूल कर्त्तव्य हैं। इसके अनुसार, भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह-

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे।

(ख) स्वतंत्रता के लिये हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में सँजोए रखे और उनका पालन करे।

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे।

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किये जाने पर राष्ट्र की सेवा करे।

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे, जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हैं।

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे।

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्द्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे।

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे।

86वाँ संविधान संशोधन

वर्ष 2002 में शिक्षा के अधिकार को संविधान के अनुच्छेद 51क में संशोधन करके (ज) के बाद नया अनुच्छेद (ट) जोड़ा गया है, "इसमें 6 साल से 14 साल तक की आयु के बच्चे के माता-पिता या अभिभावक अथवा संरक्षक को अपने बच्चे अथवा प्रतिपाल्य को शिक्षा दिलाने के लिये अवसर उपलब्ध कराने का प्रावधान है।"

9 केंद्र (संघ) की कार्यपालिका
[Executive of Centre (Union)]

भारतीय संविधान में सरकार के संसदीय स्वरूप की व्यवस्था की गई है तथा संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका अपनी नीतियों एवं कार्यों के लिये विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। वस्तुत: राजव्यवस्था का वह अंग जो नीति-निर्माण, नीति क्रियान्वयन का कार्य करे, कार्यपालिका कहलाती है। भारतीय संविधान के **भाग 5 के अनुच्छेद 52 से 78** तक में संघ की कार्यपालिका का उल्लेख किया गया है जिसमें सम्मिलित अंग- राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद तथा महान्यायवादी आदि हैं। भारतीय संविधान केंद्र एवं राज्य दोनों में संसदीय सरकार की व्यवस्था करता है। जहाँ एक तरफ अनुच्छेद 74 और अनुच्छेद 75 के माध्यम से केंद्र में संसदीय स्वरूप की व्यवस्था होती है तो वहीं दूसरी तरफ अनुच्छेद 163 और अनुच्छेद 164 के माध्यम से राज्यों के लिये संसदीय व्यवस्था का प्रावधान किया जाता है।

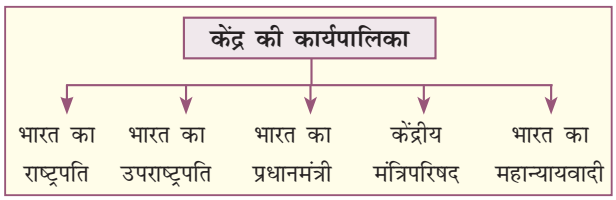

भारत का राष्ट्रपति (The President of India)

राष्ट्रपति भारत का राज्य प्रमुख तथा प्रथम नागरिक होता है। संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती है और वह इसका प्रयोग संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करता है। राष्ट्रपति देश की सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति भी होता है।

राष्ट्रपति का निर्वाचन *(Election of the President)*

संविधान के अनुच्छेद 54 तथा 55 में राष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित उपबंध दिये गए हैं। अनुच्छेद 54 में इस बात का निर्देश है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन में मत देने का अधिकार किसे होगा, जबकि अनुच्छेद 55 में बताया गया है कि निर्वाचन की प्रक्रिया क्या होगी।

निर्वाचक मंडल (Electoral College)

अनुच्छेद 54 में स्पष्ट किया गया है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मंडल के माध्यम से होगा जिसमें–

(क) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा

(ख) राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य शामिल होंगे।

इस निर्वाचक मंडल में संविधान के '70वें संशोधन अधिनियम, 1992' के द्वारा एक स्पष्टीकरण अंत:स्थापित किया गया था। इसके अनुसार राष्ट्रपति के निर्वाचन के संबंध में राज्यों की सूची में दिल्ली राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र और पुदुच्चेरी संघ राज्यक्षेत्र भी शामिल होंगे।

ध्यान रहे कि राष्ट्रपति के निर्वाचन मंडल में राज्यसभा व लोकसभा में मनोनीत सदस्य तथा राज्य की विधानपरिषदों के सदस्य शामिल नहीं होते हैं।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन (Indirect Election)

निर्वाचक मंडल के प्रावधान से स्पष्ट हो जाता है कि भारत में राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष तरीके से होता है, जनता स्वयं चुनाव द्वारा राष्ट्रपति को नहीं चुनती। संविधान सभा में इस प्रश्न पर काफी बहस भी हुई थी। अंत में अप्रत्यक्ष निर्वाचन को निम्नलिखित ठोस आधारों पर स्वीकार कर लिया गया–

- भारत की बड़ी जनसंख्या तथा वृहत् आकार को देखते हुए प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था करना न सिर्फ महँगा होता बल्कि समय की दृष्टि से भी अनुपयोगी होता।
- यदि प्रत्यक्ष निर्वाचन कर लिया जाता तो भी समस्याएँ कम नहीं होतीं। शक्ति संघर्ष की संभावना बनी रहती, क्योंकि पूरे देश की जनता द्वारा चुना गया राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद की अधीनता कभी स्वीकार नहीं करता।

निर्वाचन की प्रक्रिया (Electoral Procedure)

अनुच्छेद 55 में राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया विस्तार से बताई गई है, जिसे निम्नलिखित बिंदुओं द्वारा क्रमश: समझा जा सकता है–

- राष्ट्रपति के चुनाव में एकल संक्रमणीय मत द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति लागू की गई है जो मूलत: यही सुनिश्चित करने के लिये है कि निर्वाचित उम्मीदवार आनुपातिक दृष्टि से सर्वाधिक लोगों की पसंद हो। इस पद्धति में सबसे पहले एक कोटा तय कर लिया जाता है जो भारत के राष्ट्रपति के मामले में 50% से अधिक मतों का है। यह कोटा चुनाव में वास्तविक रूप से कितने मतों के बराबर होगा, यह निर्धारित करने के लिये एक सूत्र निर्धारित किया गया है, जो इस प्रकार है–

$$\frac{\text{डाले गए कुल मतों की संख्या}}{\text{कुल स्थानों की संख्या} + 1} + 1 = \text{कोटा}$$

- इस पद्धति में प्रत्येक मतदाता को मत देते समय अपनी वरीयताओं का अंकन करना होता है अर्थात् उसे बताना होता है कि विभिन्न प्रत्याशियों के लिये उसका वरीयता क्रम क्या है।
- अनुच्छेद 55(2) में बताया गया है कि सभी राज्य विधानसभाओं के सभी निर्वाचित विधायकों के कुल मतों का योग, संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों के मतों के कुल योग के समतुल्य बनाने के लिये क्या पद्धति अपनाई जाए? इस पद्धति के अनुसार सबसे पहले विभिन्न राज्यों के विधायकों के मतों का मूल्य निकाला जाता है। किसी राज्य की विधानसभा के एक सदस्य के मत का मूल्य निकालने का सूत्र इस प्रकार है–

10 राज्य की कार्यपालिका (State Executive)

भारत विविधताओं से परिपूर्ण देश है। यहाँ राज्यों में भाषा, रीति-रिवाज एवं संस्कृति संबंधी विविधताएँ पाई जाती हैं। इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान में संघ एवं राज्यों से संबंधित संवैधानिक व्यवस्थाओं में एकरूपता रखने का प्रयास किया गया है। जिस प्रकार संघीय कार्यपालिका राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद (जिसका प्रमुख प्रधानमंत्री होता है) तथा महान्यायवादी से मिलकर बनती है, उसी प्रकार राज्यों में कार्यपालिका राज्यपाल, राज्य मंत्रिपरिषद (जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होता है) तथा महाधिवक्ता से मिलकर बनती है। राज्य कार्यपालिका के संबंध में उपबंध संविधान के **भाग-6 के अनुच्छेद 153 से 167** में दिये गए हैं।

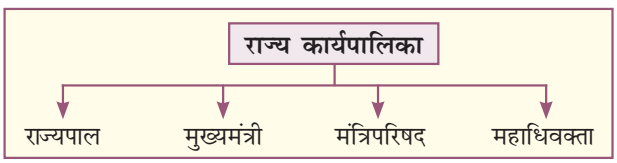

राज्यपाल (The Governor)

'राज्यपाल' का पद राज्य की शासन-व्यवस्था का अत्यंत महत्त्वपूर्ण पद है। वह राज्य विधानमंडल का अभिन्न अंग है, राज्य की कार्यपालिका का औपचारिक प्रधान है तथा केंद्र सरकार का प्रतिनिधि भी है। इस तरह राज्यपाल एक साथ कई भूमिकाओं का निर्वाह करता है।

मूल संविधान में व्यवस्था थी कि प्रत्येक राज्य के लिये एक राज्यपाल होगा (अनुच्छेद 153)। बाद में संविधान के 7वें संशोधन, 1956 के माध्यम से इसमें परंतुक (Proviso) जोड़कर स्पष्ट किया गया कि एक ही व्यक्ति को दो या अधिक राज्यों का राज्यपाल बनाया जा सकेगा।

राज्यपाल की नियुक्ति *(Appointment of the Governor)*

संविधान सभा इस प्रश्न पर काफी दुविधा में थी कि राज्यपाल की नियुक्ति कैसे हो। संघात्मक देशों में राज्यपाल प्रायः जनता द्वारा सीधे चुने जाते हैं। अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में यही व्यवस्था है। इसके विपरीत कनाडा में राज्यपालों की नियुक्ति केंद्र द्वारा की जाती है। संविधान सभा के सामने सवाल था कि भारत की परिस्थितियों के लिये इनमें से कौन-सा रास्ता उचित होगा।

लंबे विचार-विमर्श के बाद संविधान सभा ने तय किया कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा किया जाना ही उचित होगा। इस निष्कर्ष तक पहुँचने के निम्नलिखित आधार थे-

- भारत के विभाजन के कारण संविधान सभा समझ गई थी कि देश की स्थिरता और अखंडता के लिये एक मज़बूत केंद्र का होना ज़रूरी है। इसके लिये केंद्र द्वारा नियुक्त राज्यपाल ही बेहतर था।
- अगर राज्यपाल जनता द्वारा चुना जाता तो वह मुख्यमंत्री की प्रमुखता स्वीकार करने की बजाय स्वयं ही शक्ति का केंद्र बनना पसंद करता।
- अगर राज्यपाल का चुनाव होता तो इस पद पर चुना जाने वाला व्यक्ति स्वभावतः किसी दल या गठबंधन से जुड़ा होता। इससे उसकी तटस्थता प्रभावित होती और यह राज्य के स्वस्थ शासन के लिये अच्छा न होता।
- चूँकि राज्यपाल को सिर्फ औपचारिक प्रमुख की भूमिका निभानी थी, इसलिये उसके चुनाव पर बहुत सारा धन खर्च करने तथा अनावश्यक जटिलताओं को आमंत्रित करने की उपयोगिता नहीं थी।

राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राज्यपाल राज्य का कार्यकारी प्रमुख होता है, जो केंद्र सरकार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है।

नोटः केंद्र सरकार द्वारा मनोनीत व्यक्ति को ही राष्ट्रपति किसी राज्य का राज्यपाल नियुक्त करता है, किंतु राज्यपाल का कार्यालय एक स्वतंत्र संवैधानिक कार्यालय है, केंद्र सरकार के अधीनस्थ नहीं।

राज्यपाल की नियुक्ति के लिये अर्हताएँ एवं शर्तें *(Qualifications & Conditions for Appointment as Governor)*

संविधान के अनुच्छेद 157 में राज्यपाल के पद पर नियुक्ति के लिये दो अर्हताएँ निर्धारित की गई हैं-

- उसे भारत का नागरिक होना चाहिये।
- वह 35 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका हो।

वस्तुतः राज्यपाल बनने के लिये यही दो अर्हताएँ हैं, पर इनके अलावा कुछ शर्तें भी हैं जो इस पद पर नियुक्ति की नहीं बल्कि इस पद पर बने रहने की अर्हताएँ हैं। ये हैं-

- उस व्यक्ति को संसद या राज्य विधानमंडल के किसी सदन का सदस्य नहीं होना चाहिये। यदि ऐसा सदस्य राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया जाता है, तो यह समझा जाएगा कि राज्यपाल का पद ग्रहण करने की तारीख से उन्होंने अपना स्थान रिक्त कर दिया। [(अनुच्छेद 158(1)]
- वह केंद्र एवं राज्य सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर न हो। [अनुच्छेद 158 (2)]

इसके अतिरिक्त राज्यपाल की नियुक्ति से संबंधित दो परंपराएँ और जुड़ गई हैं-

प्रथम, वह उस राज्य से संबंधित नहीं होना चाहिये, जहाँ उसे नियुक्त किया जा रहा है, जिससे वह स्थानीय राजनीति से मुक्त रहे।

दूसरा, राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति से पहले उस राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श किया जाए, जहाँ उनकी नियुक्ति की जा रही है। किंतु इन परंपराओं का कुछ मामलों में उल्लंघन किया जाता है।

11 केंद्र (संघ) की विधायिका
[Legislature of Centre (Union)]

भारतीय संविधान में संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली को अपनाया गया है, जिसे सरकार का **वेस्टमिंस्टर मॉडल** भी कहा जाता है। संसदीय लोकतंत्र में संसद के सामान्यत: तीन लक्षण होते हैं, प्रथम- यह जनता का प्रतिनिधित्व करती है, द्वितीय- इसमें उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार होती है तथा तृतीय- मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है।

भारतीय संसद राष्ट्रपति, लोकसभा एवं राज्यसभा से मिलकर बनती है। राष्ट्रपति इसका अभिन्न अंग होता है, क्योंकि कोई भी विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के पश्चात् ही विधि बन पाता है। संसद की संरचना, अवधि, अधिकारों, प्रक्रियाओं, विशेषाधिकारों तथा शक्तियों का वर्णन संविधान के **भाग-5** के अंतर्गत **अनुच्छेद 79 से 122** में किया गया है।

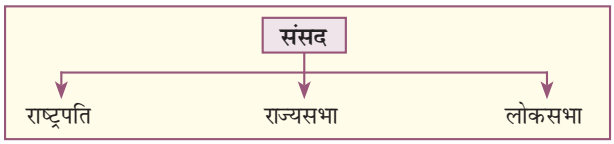

राज्यसभा (The Council of States)

हमारी संसद का एक सदन 'राज्यसभा' है, जिसे अंग्रेज़ी में 'Council of States' कहा जाता है। इसकी संरचना प्राय: वैसी ही है, जैसी इंग्लैंड में 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' की है। थोड़ी-बहुत मात्रा में इसे अमेरिकी कॉन्ग्रेस के द्वितीय सदन 'सीनेट' के समकक्ष भी माना जा सकता है। कभी-कभी इंग्लैंड की राजव्यवस्था के अनुकरण पर इसे उच्च सदन (Upper House) कह दिया जाता है। हालाँकि संविधान में ऐसी अभिव्यक्ति का प्रयोग नहीं किया गया है।

राज्यसभा का गठन *(Composition of the Council of States)*

संविधान के **अनुच्छेद 80** में राज्यसभा के गठन से संबंधित प्रावधान दिये गए हैं। इसके अनुसार राज्यसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 250 हो सकती है। हालाँकि वर्तमान में यह 245 ही है। इनमें से 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत (Nominate) किये जाते हैं जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला या समाज-सेवा के संबंध में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव होता है। शेष सदस्य, जो अधिकतम 238 हो सकते हैं, किंतु वर्तमान में 233 हैं, निर्वाचित होते हैं। राज्यसभा में प्रत्येक राज्य से कितने सदस्य होंगे, इसके लिये अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया आदि में प्रचलित 'समान प्रतिनिधित्व के सिद्धांत' (Doctrine of Equal Representation) को नहीं अपनाया गया है बल्कि राज्य विशेष की जनसंख्या को आधार बनाया गया है। यह व्यवस्था की गई है कि किसी राज्य की जनसंख्या के पहले 50 लाख व्यक्तियों तक हर 10 लाख व्यक्तियों पर एक सदस्य तथा उसके बाद प्रति 20 लाख व्यक्तियों पर राज्यसभा में एक सदस्य होगा। संविधान की चौथी अनुसूची में सभी राज्यों तथा संघ राज्यक्षेत्रों के लिये राज्यसभा में आवंटित किये गए स्थानों की सूची दी गई है। वर्तमान में यह सूची इस प्रकार है-

राज्यसभा की संरचना	संवैधानिक उपबंध	वर्तमान स्थिति
1. राज्यों एवं संघ राज्यक्षेत्रों के प्रतिनिधि	238	233 (229 सदस्य राज्यों से तथा 4 सदस्य संघ राज्यक्षेत्रों से)
2. राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत सदस्य	12	12
अधिकतम सदस्य	250	245

राज्यसभा में राज्यों को आबंटित स्थान

क्रम संख्या	राज्य	स्थान
1.	आंध्र प्रदेश	11
2.	अरुणाचल प्रदेश	01
3.	असम	07
4.	बिहार	16
5.	छत्तीसगढ़	05
6.	गोवा	01
7.	गुजरात	11
8.	हरियाणा	05
9.	हिमाचल प्रदेश	03
10.	झारखंड	06
11.	कर्नाटक	12
12.	केरल	09
13.	मध्य प्रदेश	11
14.	महाराष्ट्र	19
15.	मणिपुर	01
16.	मेघालय	01
17.	मिज़ोरम	01
18.	नागालैंड	01
19.	ओडिशा	10
20.	पंजाब	07
21.	राजस्थान	10
22.	सिक्किम	01
23.	तमिलनाडु	18
24.	तेलंगाना	07
25.	त्रिपुरा	01
26.	उत्तराखंड	03
27.	उत्तर प्रदेश	31
28.	पश्चिम बंगाल	16

12 राज्य विधायिका (The State Legislature)

संविधान के भाग-6 में **अनुच्छेद 168 से अनुच्छेद 212** तक 'राज्य का विधानमंडल' का उल्लेख है।

संविधान निर्माताओं ने केंद्र की तरह राज्यों के लिये भी संसदीय प्रणाली को उपयुक्त समझा था। जिन राज्यों में एक ही सदन है, उस सदन को 'विधानसभा' (Legislative Assembly) कहा जाता है। 'विधानपरिषद' (Legislative Council) दूसरा सदन है जो कुछ ही राज्यों में है। केंद्रीय विधायिका से तुलना करें तो कहा जा सकता है कि 'विधानसभा' की भूमिका प्राय: 'लोकसभा' के समान है जबकि 'विधानपरिषद' की 'राज्यसभा' के समान।

अनुच्छेद 168 घोषित करता है कि प्रत्येक राज्य के लिये एक विधानमंडल (Legislature) होगा। विधानमंडल में राज्यपाल और विधानसभा अभिन्न हिस्से होंगे। जिन राज्यों में विधानपरिषद हैं, उनका विधानमंडल इन दोनों के साथ उसे जोड़ने से पूरा होगा।

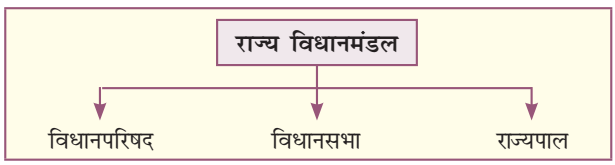

विधानपरिषद (The Legislative Council)

विधानपरिषद से संबंधित विशिष्ट प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 169 तथा अनुच्छेद 171 में दिये गए हैं।

सृजन तथा उत्सादन *(Creation and Abolition)*

अनुच्छेद 169 में बताया गया है कि किसी राज्य में विधानपरिषद के सृजन या उत्सादन की क्या प्रक्रिया होगी। इसके अनुसार, संसद विधि द्वारा किसी राज्य में विधानपरिषद का सृजन या उत्सादन करने के लिये विधि बना सकेगी, बशर्ते उस राज्य की विधानसभा ने इस आशय का संकल्प पारित किया हो। ऐसा संकल्प विधानसभा की कुल सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की संख्या के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित होना अनिवार्य है।

अनुच्छेद 169(3) में स्पष्ट किया गया है कि यदि संसद द्वारा ऐसे संकल्प के अनुरूप विधानपरिषद के सृजन या उत्सादन के लिये कोई विधि बनाई जाती है तो उसे अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिये संविधान का संशोधन नहीं समझा जाएगा।

मूल संविधान में कुल 8 राज्यों- आंध्र प्रदेश, बिहार, बंबई (अब महाराष्ट्र), तमिलनाडु, मैसूर (अब कर्नाटक), पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल के लिये द्विसदनीय विधानमंडल की व्यवस्था की गई थी जबकि बाकी राज्यों के लिये एक ही सदन अर्थात् विधानसभा की। आगे चलकर, दो सदनों वाले राज्यों में से कुछ ने महसूस किया कि उनके विधायी कार्यों के लिये एक सदन पर्याप्त है, विधानपरिषद की विशेष उपयोगिता नहीं है। ऐसे राज्यों ने संविधान के अनुच्छेद 169 के अनुसार विधानपरिषद के उत्सादन के लिये संकल्प पारित करके संसद को सौंप दिया तथा संसद ने विधि द्वारा उन राज्यों से विधानपरिषदों को हटा दिया। इस उपबंध के तहत संसद ने पंजाब (1969), पश्चिम बंगाल (1969), आंध्र प्रदेश (1985) तथा तमिलनाडु (1986) की विधानपरिषदों के उत्सादन के लिये अधिनियम पारित किये। इनमें से आंध्र प्रदेश ने बाद में पुन: विधानपरिषद के गठन का संकल्प पारित किया जिसके प्रत्युत्तर में 2005 में संसद ने 'आंध्र प्रदेश विधानपरिषद अधिनियम, 2005' पारित किया। 1985 में उत्सादित किये जाने के बाद आंध्र प्रदेश की विधानपरिषद 2007 में पुन: गठित की गई।

वर्तमान में 6 राज्यों में विधानपरिषद अस्तित्व में है जबकि शेष 22 राज्यों में एक ही सदन (विधानसभा) है। विधानपरिषद वाले राज्य हैं- बिहार, महाराष्ट्र, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश तथा तेलंगाना।

नोट: जम्मू-कश्मीर राज्य पुनर्गठन अधिनियम 2019 के लागू हो जाने (31 अक्टूबर, 2019) के बाद जम्मू-कश्मीर की विधानपरिषद समाप्त हो गई है।

सबसे विचित्र स्थिति मध्य प्रदेश की है। संविधान के 'सातवें संशोधन, 1956' द्वारा मध्य प्रदेश के लिये विधानपरिषद गठित करने का उपबंध किया गया था किंतु अभी तक इस उपबंध को प्रवृत्त करने के लिये अधिसूचना जारी नहीं की गई है। इसलिये मध्य प्रदेश में विधानपरिषद का गठन अभी भी लंबित है।

तमिलनाडु की स्थिति भी रोचक है। वहाँ 1986 में विधानपरिषद का उत्सादन किया गया था पर अप्रैल 2010 में द्रमुक (DMK) की सरकार ने पुन: उसके गठन का संकल्प पारित किया। उसके प्रत्युत्तर में संसद ने जून 2010 में 'तमिलनाडु विधानपरिषद अधिनियम' पारित कर दिया जो वहाँ विधानपरिषद के गठन की मंजूरी देता था। पर, विधानपरिषद के गठन से पहले ही द्रमुक की सरकार गिर गई और चुनावों के बाद अन्नाद्रमुक की सरकार बन गई। नई सरकार ने विधानसभा में इस आशय का संकल्प पारित कर दिया कि तमिलनाडु में विधानपरिषद के पक्ष में पारित किया गया संकल्प वापस लिया जाता है। इसके प्रत्युत्तर में मई 2012 में केंद्र सरकार ने राज्यसभा में 'तमिलनाडु विधानपरिषद (निरसन) विधेयक' पेश किया है जो अभी पारित होने की प्रक्रिया में है। वर्तमान स्थिति यह है कि संविधान तमिलनाडु में विधानपरिषद के गठन की अनुमति देता है, पर व्यवहार में वहाँ एक ही सदन (विधानसभा) है।

13 न्यायपालिका (Judiciary)

सामान्यत: न्यायालय को विभिन्न लोगों या निजी संस्थानों के आपसी झगड़ों को सुलझाने वाले 'पंच' के रूप में देखा जाता है, परंतु न्यायपालिका आपसी झगड़ों के साथ-साथ कुछ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्यों को भी अंजाम देती है। यह सरकार का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। 1950 से ही न्यायपालिका ने संविधान की व्याख्या और सुरक्षा करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। न्यायपालिका की प्रमुख भूमिका यह है कि वह 'कानून के शासन' की रक्षा और कानून की सर्वोच्चता को सुनिश्चित करे। इस प्रकार न्यायपालिका कार्यपालिका और कार्यपालिका के कार्यों पर नज़र रखती है और इनकी किसी भी प्रकार की निरंकुशता पर नियंत्रण रखती है।

संविधान में न्यायपालिका के सभी स्तरों से जुड़े प्रावधान अलग-अलग भागों व अनुच्छेदों में दिये गए हैं। सर्वोच्च न्यायालय से जुड़े उपबंध अनुच्छेद 124-147 (भाग V) में, उच्च न्यायालयों से जुड़े उपबंध अनुच्छेद 214-232 (भाग VI) में, अधीनस्थ न्यायालयों के प्रावधान अनुच्छेद 233-237 (भाग VI) में, जबकि अधिकरणों से संबंधित प्रावधान अनुच्छेद 323(क) व 323(ख) [भाग-XIV(क)] में दिये गए हैं। शेष प्रयोग विभिन्न अधिनियमों (Acts) या कार्यकारी आदेशों (Executive Orders) के आधार पर किये जा रहे हैं।

भारत की न्यायपालिका : एक परिचय (Judiciary of India : An Introduction)

न्यायपालिका के विभिन्न स्तर *(Different Levels of Judiciary)*

भारत में न्यायपालिका के तीन प्रमुख स्तर हैं। सबसे ऊपर सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) है, जिसका प्रमुख कार्य केंद्र-राज्य विवादों तथा विभिन्न राज्यों के आपसी विवादों पर विचार करना है। नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा करना, संविधान की अंतिम व्याख्या करना तथा सिविल व आपराधिक मामलों में अपीलों की अंतिम सुनवाई करना भी इसके कार्यों में शामिल है।

सर्वोच्च न्यायालय के बाद दूसरे स्तर पर उच्च न्यायालय (High Court) हैं, जो किसी राज्य की न्यायपालिका के सर्वोच्च स्तर पर स्थित हैं। केंद्र-राज्य विवादों या विभिन्न राज्यों के आपसी विवादों पर इनका क्षेत्राधिकार नहीं है, किंतु इन विषयों को छोड़कर ये राज्य की सीमाओं के भीतर प्राय: वे सभी कार्य करते हैं जो सर्वोच्च न्यायालय देश के स्तर पर करता है। ध्यातव्य है कि उच्च न्यायालय न्यायिक दृष्टि से सर्वोच्च न्यायालय के अधीन होते हैं, किंतु प्रशासनिक दृष्टि से वे स्वतंत्र हैं। सर्वोच्च न्यायालय उनके निर्णयों को बदल सकता है, उनके न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा स्थानांतरण कर सकता है; पर उच्च न्यायालयों के प्रशासन को नियंत्रित नहीं कर सकता।

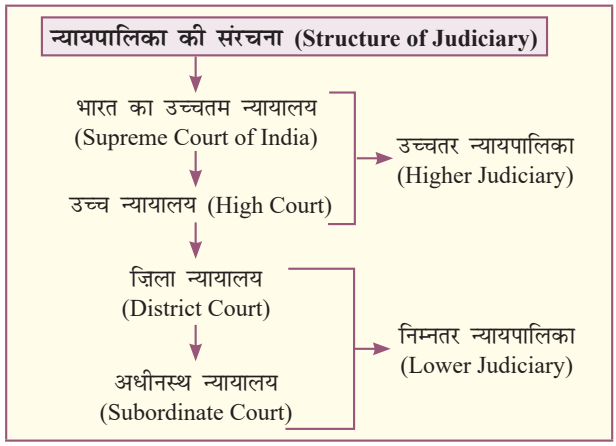

उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय को सम्मिलित रूप से 'उच्चतर न्यायपालिका' (Higher Judiciary) कहा जाता है। इसके विपरीत, उच्च न्यायालयों से नीचे के सभी न्यायालयों को सम्मिलित रूप से 'निम्नतर न्यायपालिका' (Lower Judiciary) या 'अधीनस्थ न्यायपालिका' (Subordinate Judiciary) कहा जाता है।

अधीनस्थ न्यायपालिका के भी कई उप-स्तर हैं। इनमें सर्वोच्च स्तर पर ज़िला एवं सत्र न्यायालय (District and Session Court) होता है तथा उसके नीचे दो से तीन स्तरों पर उसके अधीन काम करने वाले अन्य न्यायालय। ये सभी न्यायालय प्रशासनिक दृष्टि से उच्च न्यायालय के प्रत्यक्ष नियंत्रण में काम करते हैं। संबंधित उच्च न्यायालय इनके निर्णयों की अपील तो सुनता ही है; साथ ही उनके प्रशासन की निगरानी भी करता है। अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों का स्थानांतरण, उनके कार्य की समीक्षा आदि उसी के हाथ में होती है।

न्यायपालिका के इस परंपरागत ढाँचे के अलावा कुछ अधिकरण (Tribunals) भी स्थापित किये जाते हैं जो किसी विशेष विभाग या विशेष अधिनियम से जुड़े मामलों को देखते हैं। अधिकरणों की व्यवस्था मूल संविधान में नहीं थी हालाँकि अधिनियमों के माध्यम से उनके गठन की प्रक्रिया संविधान बनने के कुछ वर्ष बाद ही शुरू हो गई। संविधान के '42वें संशोधन अधिनियम, 1976' के माध्यम से अधिकरणों को संवैधानिक स्तर प्रदान करने के लिये संविधान में भाग XIV-क जोड़ा गया, जिसमें दो अनुच्छेद 323(क) तथा 323(ख) शामिल हैं। संवैधानिक स्तर के अधिकरणों का गठन इन्हीं अनुच्छेदों के तहत बनाए गए अधिनियमों के अनुसार किया जाता है। हालाँकि अभी भी अधिकांश मामलों में सामान्य अधिनियमों के माध्यम से अधिकरण गठित करने का चलन है। अधिकरणों की ही तरह कुछ आयोग (Commission), बोर्ड (Board) तथा फोरम (Forum) भी कार्यरत हैं जो अपनी कार्य-शैली में अधिकरणों के काफी नज़दीक हैं।

14 केंद्र-राज्य संबंध (Centre-State Relation)

संघवाद (Federalism)

ध्यातव्य है कि भारतीय संविधान का संघीय चरित्र इसकी प्रमुख विशेषताओं में से एक है, हालाँकि भारतीय संविधान में कहीं भी महासंघ या फेडरेशन (Federation) शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। बल्कि इसके स्थान पर भारतीय संविधान में भारत को 'राज्यों के संघ' के रूप में संबोधित किया गया है। दरअसल, कई जानकार मानते हैं कि भारत एक अर्द्ध-संघीय देश है अर्थात् यह एक ऐसा संघीय राज्य है जिसमें एकात्मक सरकार की भी कुछ विशेषताएँ मौजूद हैं।

क्या है? *(What is?)*

ज्ञातव्य है कि संघवाद (Federalism) शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'Foedus' से हुई है जिसका अर्थ है एक प्रकार का समझौता या अनुबंध।

वास्तव में महासंघ दो तरह की सरकारों के बीच सत्ता साझा करने और उनके संबंधित क्षेत्रों को नियंत्रित करने हेतु एक समझौता है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि संघवाद सरकार का वह रूप है जिसमें देश के भीतर सरकार के कम-से-कम दो स्तर मौजूद हैं- पहला केंद्रीय स्तर पर और दूसरा स्थानीय या राज्यीय स्तर पर।

भारत की स्थिति में संघवाद को स्थानीय, केंद्रीय और राज्य सरकारों के मध्य अधिकारों के वितरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

सहकारी बनाम प्रतिस्पर्द्धी संघवाद *(Cooperative Vs Competitive Federalism)*

केंद्र और राज्य सरकार के बीच संबंधों के आधार पर संघवाद की अवधारणा को दो भागों में विभाजित किया गया है (1) सहकारी संघवाद (2) प्रतिस्पर्द्धी संघवाद।

सहकारी संघवाद

सहकारी संघवाद में केंद्र व राज्य एक-दूसरे के साथ क्षैतिज संबंध स्थापित करते हुए एक-दूसरे के सहयोग से अपनी समस्याओं को हल करने का प्रयास करते हैं। सहकारी संघवाद की इस अवधारणा में यह स्पष्ट किया जाता है कि केंद्र और राज्य में से कोई भी किसी से श्रेष्ठ नहीं है।

- जानकारों का मानना है कि यह राष्ट्रीय नीतियों के निर्माण और कार्यान्वयन में राज्यों की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिये एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है।
- संघ और राज्य संवैधानिक रूप से संविधान की 7वीं अनुसूची में निर्दिष्ट मामलों पर एक-दूसरे के साथ सहयोग करने हेतु बाध्य हैं।

प्रतिस्पर्द्धी संघवाद

- प्रतिस्पर्द्धी संघवाद में केंद्र सरकार और राज्य सरकारों के मध्य संबंध लंबवत् होते हैं, जबकि राज्य सरकारों के मध्य संबंध क्षैतिज होते हैं।
- गौरतलब है कि प्रतिस्पर्द्धी संघवाद की अवधारणा को देश में 1990 के दशक के आर्थिक सुधारों के बाद से महत्त्व प्राप्त हुआ।
- प्रतिस्पर्द्धी संघवाद में राज्यों को आपस में और केंद्र के साथ लाभ के उद्देश्य से प्रतिस्पर्द्धा करनी होती है।
- सभी राज्य धन और निवेश को आकर्षित करने के लिये एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्द्धा करते हैं, ताकि विकास संबंधी गतिविधियों को बढ़ावा दिया जा सके है।
- सामान्यत: निवेशक अपने पैसे का निवेश करने के लिये अधिक विकसित राज्यों को पसंद करते हैं।
- उल्लेखनीय है कि प्रतिस्पर्द्धी संघवाद भारतीय संविधान की मूल संरचना का हिस्सा नहीं है।

केंद्र-राज्य संबंध (Centre-State Relation)

केंद्र-राज्य संबंध से आशय किसी लोकतांत्रिक राज्य में केंद्र एवं उसकी इकाइयों (राज्यों) के मध्य आपसी संबंधों से है। लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के उदय के साथ राजव्यवस्था में केंद्र-राज्य संबंधों की एक नई अवधारणा का जन्म हुआ। दोहरे शासन की व्यवस्था संघवाद की एक प्रमुख विशेषता है। भारत में भी संविधान ने शासन के दो स्तरों की स्थापना की है, जिसमें केंद्र में एक संघीय सरकार है तथा चारों तरफ परिधि में राज्य सरकारें हैं।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद-1 में उल्लेख किया गया है कि भारत अर्थात् इंडिया राज्यों का संघ होगा। भारत में शासन की संघीय प्रणाली को अपनाया गया है जिसमें समस्त शक्तियों को केंद्र एवं राज्यों के बीच संविधान के प्रावधानों के अनुसार विभाजित किया गया है। संविधान के **भाग-XI** में **संघ और राज्यों के बीच संबंध** के दो अध्याय दिये गए हैं, जिसके पहले अध्याय में **विधायी संबंध** (अनुच्छेद 245–255) तथा दूसरे अध्याय में **प्रशासनिक संबंध** (अनुच्छेद 256–263) का ज़िक्र है। जहाँ तक **वित्तीय संबंधों** का सवाल है तो उनकी चर्चा संविधान के भाग-XII के कुछ हिस्सों (मुख्यत: अनुच्छेद 268–293) में की गई है।

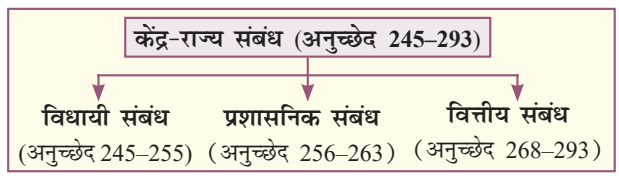

- भारतीय संविधान का स्वरूप संघात्मक है।
- भारत के लिये फेडरेशन शब्द की जगह यूनियन (संघ) शब्द का प्रयोग किया गया है। राज्यों के संघ का आशय यह है कि भारतीय संघ राज्यों के बीच सहमति का प्रतिफल नहीं है, अर्थात् राज्यों को यह अधिकार नहीं है कि वे भारतीय संघ से स्वयं को पृथक् कर सकें।
- भारत में संघीय प्रणाली का प्रावधान कनाडा के संविधान से लिया गया है। कनाडा के समान ही भारत में संविधान के अनुसार संघ एवं राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन किया गया है।

15 विकेंद्रीकरण एवं लोकतांत्रिक शासन में जनभागीदारी
(Public Participation in Decentralization and Democratic Governance)

लोकतंत्र वास्तविक अर्थों में तभी सफल होता है जब राजनीतिक शक्ति आम आदमी के हाथों में पहुँच जाती है। इसका आदर्श रूप यह होना चाहिये कि आम आदमी के पास स्थानीय मुद्दों, जैसे- पानी, सड़क, सफाई आदि की प्रशासन में निर्णायक भूमिका हो तथा व्यापक स्तर के मुद्दों के लिये उसे अपना प्रतिनिधि चुनने तथा उससे संवाद व सवाल-जवाब करने का हक हो तथा जो उसकी ओर से कानून बनाने तथा प्रशासन चलाने की प्रक्रिया में शामिल हो। आजकल इस आदर्श को 'सहभागितामूलक लोकतंत्र' (Participatory Democracy) कहा जाता है।

वैश्विक स्तर पर सहभागितामूलक लोकतंत्र की प्रगति और विकास हो रहा है और वह हर देश के सत्ताधारियों को बाध्य कर रही है कि वे शक्ति का अधिकाधिक विकेंद्रीकरण करे। सामान्य राय यह बनती जा रही है कि स्थानीय महत्त्व के मुद्दों पर निर्णय की शक्ति उसी स्तर की लोकतांत्रिक संस्थाओं को सौंपी जानी चाहिये और ऊपर के स्तरों पर वही काम किये जाने चाहियें जो नीचे के स्तरों पर न किये जा सकें। भारत में भी 'लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण' और 'स्थानीय स्वशासन' (Local Self Government) की धारणा नई नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में यही धारणा 'पंचायती राज' कहलाती है, जबकि शहरी स्वशासन संस्थाओं को 'नगरपालिका' कहा जाता है।

विकेंद्रीकरण व्यवस्था के आधार पर ही सच्चे लोकतंत्र की कल्पना की जा सकती है जो लोकतंत्र का मूल आधार है। इस संदर्भ में विभिन्न विचारकों के विचार निम्नलिखित हैं-

- **एल.डी. व्हाइट के अनुसार,** "जब सत्ता को ऊपरी स्तर से निचले स्तर पर ले जाया जाता है तब उसे विकेंद्रीकरण कहते हैं।"
- **हेनरी फेयोल के अनुसार,** "जिस संकल्पना में निचले स्तर के लोगों के महत्त्व में वृद्धि होती है, उसे विकेंद्रीकरण कहते हैं।"
- **महात्मा गांधी के अनुसार,** "लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण में **ग्राम स्वराज** की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।"
- गांधी जी का मानना था कि प्रत्येक आँख से आँसू पोंछना ही सच्चे लोकतंत्र का पर्याय है, क्योंकि भारत की अधिकांश जनता गाँवों में निवास करती है, जिनकी परिस्थिति एवं समस्याएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। इसके निदान के लिये ग्रामीण जनता की सत्ता में अधिक-से-अधिक भागीदारी होना आवश्यक है, जिससे वे अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं ढूंढ सकें।

गांधी जी ने कहा था कि यदि गाँव नष्ट हो गए तो भारत भी नष्ट हो जाएगा। इसी प्रकार पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि यदि हमारी स्वाधीनता को जनता की आवाज़ की प्रतिध्वनि बनना है तो पंचायतों को जितनी अधिक शक्ति मिले, जनता के लिये उतनी ही भली है। भारत में पंचायतें प्राचीन-काल से ही किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रही हैं, जिसे बहुत पुरानी पंच परमेश्वर की अवधारणा से जोड़ा गया है। इसी संदर्भ में कहा जाता है कि भारत गाँवों में बसता है।

पंचायती राज (Panchayati Raj)

ध्यातव्य है कि जो देश संघात्मक (Federal) राजव्यवस्था को अपनाते हैं, उनके संविधान में सत्ता के दो स्तर होते हैं- संघ तथा राज्य। अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया जैसे देशों में यही व्यवस्था कार्य करती है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 1 में भी साफ तौर पर कहा गया है कि "इंडिया अर्थात् भारत राज्यों का संघ होगा" जिसमें निहित है कि शक्ति का वितरण संघ व राज्यों के बीच किया जाएगा। संघात्मक देशों में स्थानीय स्वशासन का ढाँचा तय करने की शक्ति सामान्यत: राज्यों के हाथ में होती है और इसमें केंद्र का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। भारत में भी संविधान लागू होने के समय (1950) से यही व्यवस्था थी, किंतु इसमें निहित कमज़ोरियों को देखते हुए तथा जनता की सीधी भागीदारी का महत्त्व समझते हुए हमारी संसद ने (अधिकांश राज्यों के विधानमंडलों के सहयोग से) 1992-93 के दौरान दो महत्त्वपूर्ण संविधान संशोधन किये, जिन्हें '73वाँ' तथा '74वाँ संशोधन' कहा जाता है। इन संशोधनों ने हमारे संविधान में सत्ता का एक तीसरा स्तर भी निर्धारित कर दिया, जिसे गाँवों के लिये 'पंचायत' और शहरों के लिये 'नगरपालिका' कहा गया। इन संशोधनों ने हमारी राजव्यवस्था को संघात्मक ढाँचे से एक कदम और आगे बढ़ा दिया, क्योंकि अब हमारे संविधान में सत्ता के तीन स्तर निर्धारित हैं- संघ, राज्य तथा स्थानीय स्वशासन। सत्ता के विकेंद्रीकरण को लक्षित इन प्रयासों की कुछ सीमाएँ तो हैं, किंतु लोकतंत्र की जड़ों तक पहुँचने की दृष्टि से इन्हें 'मौन क्रांति' की संज्ञा देना गलत न होगा।

पंचायती राज का क्रमागत विकास
(Gradual Development of Panchayati Raj)

प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत में पंचायतों के रूप में स्थानीय स्वशासन की लंबी परंपरा रही है पर ब्रिटिशों के आगमन के बाद स्थिति बदलने लगी। परंपरागत पंचायतें अंग्रेज़ों के लिये अनुपयोगी थीं। 1773 के 'रेग्यूलेटिंग एक्ट' के तहत गाँवों के लिये जो ज़मींदार नियुक्त किये गए थे, वे पंचायतों से स्वतंत्र थे और सरकार के प्रति जवाबदेह थे। आगे चलकर सिविल तथा आपराधिक न्यायालयों के गठन के साथ पंचायतों की भूमिका और कमज़ोर हो गई।

1857 के बाद ब्रिटिश सरकार को समझ में आने लगा कि स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के बिना इतने बड़े देश का शासन चलाना उसके लिये संभव नहीं है। 1882 में लॉर्ड रिपन ने स्थानीय स्वशासन संबंधी प्रस्ताव दिया, जिसे भारतीय स्वशासन संस्थाओं के इतिहास में 'मैग्नाकार्टा' कहा जाता है। इस प्रस्ताव के तहत रिपन ने नगरीय स्थानीय संस्थाओं के साथ-साथ ग्राम पंचायतों, न्याय पंचायतों तथा ज़िला स्तर पर ज़िला बोर्ड के गठन का प्रस्ताव रखा था।

1919 में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के रूप में 'भारत सरकार अधिनियम, 1919' पारित हुआ। इसके तहत प्रांतों में दोहरे शासन

16 आपातकालीन उपबंध (Emergency Provisions)

सामान्य परिस्थितियों में भारतीय संविधान संघात्मक ढाँचे का अनुसरण करता है परंतु हमारे संविधान निर्माताओं को इस बात का अहसास था कि यदि देश की सुरक्षा खतरे में हो या उसकी एकता और अखंडता को खतरा हो, तो यह ढाँचा परेशानी का कारण भी बन सकता है। ऐसी परिस्थितियों में देश की रक्षा के लिये परिसंघ के सिद्धांतों को त्याग दिया जाता है और जैसे ही देश की स्थितियाँ सामान्य होती हैं, संविधान पुनः अपने सामान्य रूप में कार्य करने लगता है।

भारतीय संविधान निर्माताओं ने संविधान के भाग-18 के अनुच्छेद 352 से 360 में तीन प्रकार के आपात्कालीन प्रावधानों का उल्लेख किया है– ये प्रावधान केंद्र को किसी भी असामान्य स्थिति से प्रभावी रूप से निपटने में सक्षम बनाते हैं। संविधान में इन प्रावधानों को जोड़ने का मुख्य उद्देश्य देश की संप्रभुता, एकता, अखंडता, संविधान की सुरक्षा व लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था की सुरक्षा करना है।

- युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की स्थिति से उत्पन्न आपात् जिसे आम बोलचाल में राष्ट्रीय आपात् कहा जाता है। हालाँकि संविधान में इसके लिये आपात् की उद्घोषणा शीर्षक का प्रयोग हुआ है।
- राज्यों में संवैधानिक तंत्र के विफल हो जाने की स्थिति से उत्पन्न परिस्थिति। प्रचलित भाषा में इसे राष्ट्रपति शासन के नाम से जाना जाता है। संविधान में इसके लिये कहीं भी आपात् या आपात्काल शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है।
- ऐसी स्थिति जिसमें भारत का वित्तीय स्थायित्व या साख संकट में हो, तो उसे वित्तीय आपात् कहते हैं। संविधान में भी इसे वित्तीय आपात् कहा गया है।

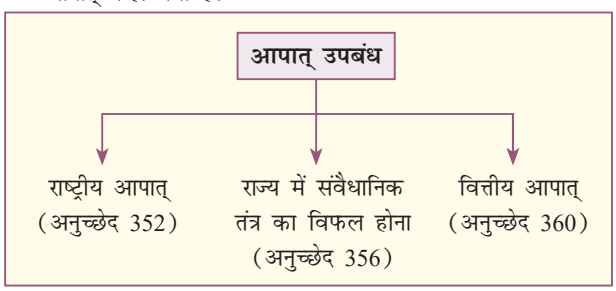

राष्ट्रीय आपात् (National Emergency)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 352 के अनुसार राष्ट्रपति को आपात् की उद्घोषणा करने की शक्ति प्राप्त है यदि उसे यह समाधान हो जाता है कि युद्ध, बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण भारत या उसके किसी क्षेत्र की सुरक्षा संकट में है। ज़रूरी नहीं है कि संकट वास्तव में मौजूद हो, यदि संकट सन्निकट है तो भी उद्घोषणा की जा सकती है। 44वें संविधान संशोधन द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि राष्ट्रपति ऐसी उद्घोषणा केवल तभी कर सकता है जब संघ का मंत्रिमंडल (Cabinet) इस संदर्भ में अपने विनिश्चय की सूचना लिखित रूप में प्रदान करे।

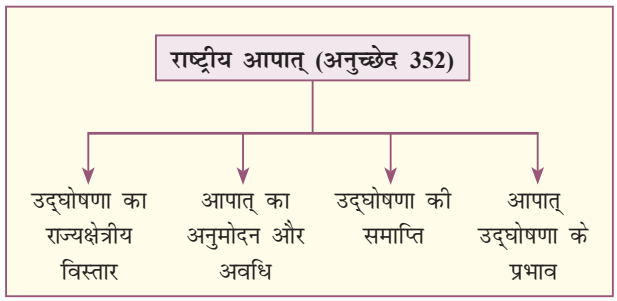

मूल संविधान में आपात् की उद्घोषणा का आधार 'युद्ध', 'बाह्य आक्रमण' और 'आंतरिक अशांति था', लेकिन 44वें संविधान संशोधन के द्वारा 'आंतरिक अशांति' के स्थान पर 'सशस्त्र विद्रोह' को आधार बनाया गया और इस प्रकार युद्ध, बाह्य आक्रमण एवं सशस्त्र विद्रोह के आधार पर आपात्काल घोषित किया जा सकता है।

मूल संविधान में इस बात की कोई चर्चा नहीं थी कि आपात् की एक ही उद्घोषणा की जा सकती है या एकाधिक उद्घोषणाएँ भी संभव हैं। 38वें संविधान संशोधन, 1975 द्वारा अनुच्छेद 352 में एक नया खंड जोड़कर यह स्पष्ट किया गया कि राष्ट्रपति को इस अनुच्छेद के तहत विभिन्न आधारों पर एक ही समय में विभिन्न घोषणाएँ करने की शक्ति होगी चाहे राष्ट्रपति ने पहले से कोई उद्घोषणा कर रखी हो और वह प्रवर्तन में हो।

नोट: भारतीय संविधान में केवल अनुच्छेद 352 में ही एक बार मंत्रिमंडल (Cabinet) शब्द का प्रयोग हुआ है, शेष सभी स्थानों पर मंत्रिपरिषद शब्द का उल्लेख है।

उद्घोषणा का राज्यक्षेत्रीय विस्तार *(Territorial Extension of the Proclamation)*

मूल संविधान में विशिष्ट तौर पर यह नहीं कहा गया था कि आपात् की उद्घोषणा को भारत के किसी विशिष्ट भाग तक भी सीमित किया जा सकता है। इसका अर्थ यह निकाला जाता था कि समस्या चाहे देश के किसी विशिष्ट भाग तक ही सीमित क्यों न हो परंतु आपात् की उद्घोषणा पूरे देश के लिये की जाएगी। 42वें संविधान संशोधन, 1976 द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह आपात् की उद्घोषणा को पूरे भारत या उसके किसी विशिष्ट क्षेत्र तक भी सीमित रख सकता है। यह संशोधन युक्तियुक्त और तर्कसंगत है। जैसे यदि संकट लद्दाख पर हो तो यह आवश्यक नहीं कि कन्याकुमारी में भी आपात् लागू किया जाए। संकट किस क्षेत्र पर है, इसका निर्णय राष्ट्रपति करेगा। यहाँ राष्ट्रपति के निर्णय का अर्थ मंत्रिमंडल के निर्णय से है।

17 संविधान का संशोधन
(Amendment of the Constitution)

भारत में संविधान संशोधन की शक्ति संसद को दी गई है, इसका प्रावधान संविधान के भाग XX के अनुच्छेद 368 में किया गया है। भारतीय संविधान में संशोधन की यह प्रक्रिया दक्षिण अफ्रीका के संविधान से ग्रहण की गई है। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है और इस गतिमान ब्रह्मांड में कोई भी चीज़ सदैव स्थायी नहीं रह सकती। कोई भी संविधान निर्मात्री सभा यह दावा नहीं कर सकती, कि उसके द्वारा निर्मित संविधान सार्वकालिक प्रकृति का सिद्ध होगा। इसका मूल कारण यह है कि हम भविष्य की सभी बातों का अनुमान लगा ही नहीं सकते और कोई भी ढाँचा हर काल एवं हर परिस्थिति का सामना नहीं कर सकता। समय के साथ-साथ उसमें परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती ही है। इसलिये यही बात उचित है कि संविधान में ही उसके संशोधन का तरीका बता दिया जाए अन्यथा इस बात की पूरी संभावना है कि नई पीढ़ी उसे नष्ट करके अपनी आवश्यकतानुसार नया संविधान गढ़े।

संशोधन की प्रक्रिया (Procedure of Amendment)

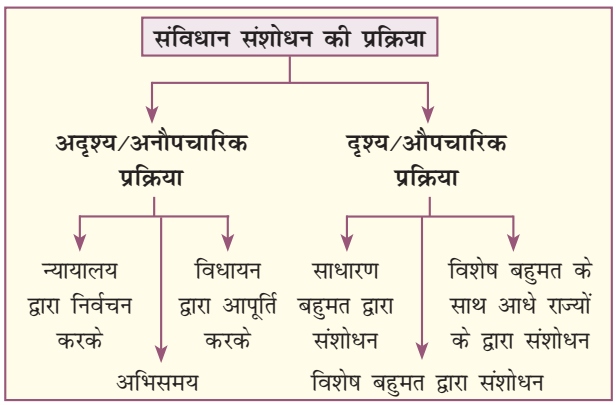

अदृश्य या अनौपचारिक प्रक्रिया *(Invisible or Informal Process)*

इस प्रक्रिया में घोषित तौर पर संविधान में संशोधन नहीं किया जाता फिर भी संविधान में परिवर्तन आ जाता है। इसके मुख्यतः तीन तरीके हैं-

1. **न्यायालय द्वारा निर्वचन करके:** यदि उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय संविधान के किसी उपबंध की मौलिक व्याख्या कर दे तो वह व्याख्या ही उस प्रावधान का वास्तविक अर्थ मानी जाती है, जैसे- विभिन्न लोकहित वादों में संविधान के अनुच्छेद 21 की व्याख्या में बहुत सी ऐसी बातें जुड़ी हैं जो मूल संविधान में नहीं थीं।
2. **अभिसमय अर्थात् संवैधानिक परंपराओं के पालन द्वारा:** राष्ट्रपति की जेबी वीटो या 'पॉकेट वीटो', राष्ट्रपति- मंत्रिपरिषद संबंध, बहुमत स्पष्ट न होने पर राष्ट्रपति द्वारा सबसे बड़े दल के नेता को आमंत्रित करना आदि अभिसमय के ही उदाहरण हैं।
3. **विधायन द्वारा आपूर्ति करके:** जैसे- नागरिकता अधिनियम, 1955 आदि।

दृश्य या औपचारिक प्रक्रिया *(Visible or Formal Process)*

इस प्रक्रिया में संविधान में बताए गए तरीके से संशोधन होता है। यह परिवर्तन की घोषित और प्रकट प्रक्रिया है। भारत के संविधान में यह तीन तरीके से संभव है-

1. कुछ उपबंधों में साधारण बहुमत द्वारा
2. कुछ उपबंधों में विशेष बहुमत द्वारा
3. कुछ उपबंधों में विशेष बहुमत के साथ आधे राज्यों के विधानमंडलों के अनुसमर्थन द्वारा संशोधन

संसद के साधारण बहुमत द्वारा संशोधन

संविधान के जिन उपबंधों का विशेष संवैधानिक महत्त्व नहीं है उनमें संशोधन करने के लिये अत्यंत लचीली प्रक्रिया अपनाई गई है। ध्यातव्य है कि इन उपबंधों में संशोधन को अनुच्छेद 368 के तहत संविधान का संशोधन नहीं माना जाता है। ये उपबंध दो प्रकार के हैं-

1. **जहाँ संविधान का पाठ नहीं बदलता परंतु विधि में परिवर्तन आ जाता है:** जैसे-अनुच्छेद 11 के तहत नागरिकता संबंधी विधि बनाने की शक्ति संसद को है परंतु अनुच्छेद 5 से 10 तक के अनुच्छेद वैसे ही लिखे रहेंगे। अनुच्छेद 124 में आज भी लिखा है कि भारत का उच्चतम न्यायालय एक मुख्य न्यायाधीश और सात से अनधिक न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा, जबकि संसद ने न्यायाधीशों की संख्या 7 से बढ़ाकर 34 (मुख्य न्यायाधीश सहित) कर दी है।
2. **जहाँ संविधान का पाठ परिवर्तित हो जाता है:** इनमें से कुछ प्रमुख उपबंध निम्नलिखित हैं-
   - नए राज्य का निर्माण या विद्यमान राज्यों के नाम या सीमा में परिवर्तन।
   - पहली, चौथी, पाँचवीं, छठी अनुसूची के विषय।
   - विधानपरिषद का सृजन या उत्सादन।
   - संघ राज्यक्षेत्रों के लिये विधानमंडल या मंत्रिपरिषद या दोनों का सृजन।
   - राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, न्यायाधीशों, कुछ अन्य संवैधानिक पदों के वेतन-भत्ते आदि।
   - संसदीय विशेषाधिकार का निर्धारण।
   - अनुच्छेद 343 में अंग्रेज़ी के प्रयोग का 15 वर्ष से अधिक के लिये विस्तार।

संसद के विशेष बहुमत द्वारा संशोधन

जो उपबंध 'साधारण बहुमत द्वारा संशोधन' और भारत के संघीय ढाँचे से संबंधित उपबंधों के अंतर्गत नहीं आते हैं उन सभी में विशेष

18 लोकतंत्र की कार्यप्रणाली (Methodology of Democracy)

लोकतंत्र में समस्त जनता शासन में भागीदार होती है और शासन की वैधता का स्रोत भी जनता है। लोकतंत्र वह व्यवस्था है जिसमें जनता सरकार को निर्णय लेने, कानूनों का निर्माण करने और उन्हें लागू करने का अधिकार प्रदान करती है। जनसंख्या की अधिकता के कारण आज अप्रत्यक्ष लोकतंत्र का प्रचलन है जिसमें जनता अपने प्रतिनिधि के माध्यम से निर्णय प्रक्रिया में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करती है। राजतंत्र के विपरीत इन प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित सरकार को अपने निर्णयों एवं उठाए गए कदमों का जनता को आधार बताना होता है और सफाई देनी होती है। इस प्रकार जनता, निर्णय प्रक्रिया में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करती है।

निर्णयन प्रक्रिया में नागरिकों की भागीदारी (Citizens Participation in Decision Making Process)

लोकतंत्र का मूलभूत विचार यह है कि लोग नियम बनाने में भागीदार बनकर स्वयं ही शासन करें। सभी नागरिकों की समान भागीदारी लोकतंत्र का आधार स्तंभ है। यह भागीदारी **सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार** द्वारा सुनिश्चित होती है। यदि कोई सरकार अपने सभी वयस्क नागरिकों को मताधिकार प्रदान नहीं करती है, तो वह निर्णय प्रक्रिया में नागरिकों को भागीदार होने से रोकती है और ऐसी सरकार **लोकतांत्रिक** नहीं कही जा सकती।

अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में चुनाव के माध्यम से जनता अपना प्रतिनिधि चुनकर शासन में भागीदार बनती है। चुनाव के अलावा सरकार के कार्यों में रुचि लेकर और उसकी समीक्षा करके भी जनता अपनी भागीदारी सुनिश्चित करती है। हड़ताल, जुलूस, धरना-प्रदर्शन, हस्ताक्षर अभियान, आंदोलन आदि के द्वारा जनता सरकार के गलत निर्णयों को उसके सामने लाती है और उन्हें बदलने के लिये मजबूर करती है। अखबार, पत्र-पत्रिकाएँ, टेलीविज़न, सोशल मीडिया आदि जनता के मुद्दों और सरकार के कार्यों पर बहुआयामी चर्चा करके जन भागीदारी को बढ़ावा देते हैं।

प्रजा और नागरिक की अवधारणा में मुख्य विभेद भागीदारी का ही है। प्रजा राज्य के निर्णयों से प्रभावित तो होती है परंतु निर्णय लेने में उसकी कोई भूमिका नहीं होती जबकि लोकतंत्र में नागरिक राज्य के सभी कार्यों में भागीदार होते हैं। जनता की भागीदारी की गुणवत्ता प्रायः लोकतंत्र के मूल्यांकन के लिये आवश्यक मानी जाती है। अलोकतांत्रिक सरकार लोक-सहभागिता के सिद्धांत पर आधारित नहीं होती। अलोकतांत्रिक सरकार की संस्थाएँ भी अपने कार्यों के लिये लोगों के प्रति उत्तरदायी नहीं होतीं। सत्तावादी, अधिनायकवादी, सर्वसत्तात्मक या सर्वाधिकारवादी सरकारें इसी के उदाहरण हैं। उनकी निर्णय प्रक्रिया पर लोक नियंत्रण व भागीदारी का अभाव है।

जन-भागीदारी, राजनीतिक प्रक्रिया और संस्थाओं को समझने का अवसर प्रदान करती है। इस प्रक्रिया में जनता न केवल सरकारों अथवा संस्थाओं बल्कि अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के बारे में अधिक शिक्षित एवं जागरूक बनती है। निर्णय प्रक्रिया में भागीदार बनाकर लोकतंत्र अपने नागरिकों को प्रभावशाली प्रशिक्षण देता है। जनता में स्वयं निर्माण की क्षमता से उत्पन्न होने वाला विश्वास प्रत्येक व्यक्ति में गरिमा एवं आत्मसम्मान उत्पन्न करता है। यह उनके व्यक्तित्व को भी बल प्रदान करता है। उससे जनता में बंधुत्व और सहयोग की भावना विकसित होती है।

लोकतांत्रिक सरकार का गठन वास्तव में लोगों की सामूहिक भागीदारी से होता है। इसलिये यह अत्यंत आवश्यक है कि लोगों में समाज के लिये वांछनीय व अवांछनीय का भेद करने की योग्यता हो। राज्य की गतिविधियों का व्यावहारिक ज्ञान एवं चेतना सदा लाभप्रद होते हैं। चुनाव के माध्यम से निर्णय में भागीदारी से सरकार के कार्य संचालन में नागरिकों की रुचि बनी रहती है। निर्णय की भागीदारी की सार्थकता तभी पूर्ण होगी जब सभी वयस्क नागरिक मतदान में भाग लें और आपस में खुलकर उम्मीदवारों की बहुपक्षीय योग्यताओं की तुलनात्मक चर्चा करें। राजनीतिक दलों और हित समूहों के सम्मिश्रण पर लोकतांत्रिक दृष्टि रखें। ऐसी स्थिति में निर्णय लेने वाली संस्थाएँ जन आकांक्षाओं के अनुरूप निर्णय लेती हैं और इस प्रकार निर्णय प्रक्रिया में जन-भागीदारी की सार्थकता सिद्ध होती है।

निर्वाचन आयोग (Election Commission)

लोकतंत्र में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष निर्वाचन का अत्यधिक महत्त्व है। निर्वाचन की दृष्टि से भारत ने अपने सभी वयस्क नागरिकों को वयस्क मताधिकार का अधिकार दिया है। 61वाँ संविधान संशोधन 1989 के पश्चात् 18 वर्ष की आयु का कोई भी नागरिक जो विधि द्वारा निरर्हित घोषित नहीं किया गया हो, मताधिकार का अधिकार रखता है। ध्यातव्य है कि मत देने का अधिकार **कानूनी या विधिक (legal)** अधिकार है, यह **मौलिक अधिकार नहीं** परंतु लोकतंत्र के लिये इसका अत्यधिक महत्त्व है।

मुख्य निर्वाचन आयुक्त *(Chief Election Commissioner)*

स्वतंत्र एवं निष्पक्ष निर्वाचन के लिये संविधान के **अनुच्छेद** 324 में निर्वाचन आयोग की स्थापना का प्रावधान है। इसके अनुसार निर्वाचन आयोग में एक मुख्य चुनाव आयुक्त होगा तथा राष्ट्रपति द्वारा समय-समय पर निर्धारित संख्या में अन्य चुनाव आयुक्त नियुक्त होगें। मुख्य चुनाव आयुक्त एवं अन्य निर्वाचन आयुक्त की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाएगी। जब इसमें एक से अधिक सदस्य होते हैं तो मुख्य निर्वाचन आयुक्त, इस आयोग का अध्यक्ष होता है। राष्ट्रपति निर्वाचन आयोग की सलाह पर उतने प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति कर सकता है, जितने वह निर्वाचन आयोग की सहायता के लिये आवश्यक समझे। मुख्य निर्वाचन आयुक्त व अन्य आयुक्तों के पास समान शक्तियाँ होती हैं तथा उनके **वेतन, भत्ते व दूसरे अनुलाभ** भी एक समान होते हैं, जो **उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के बराबर** होते हैं।

19 पारदर्शिता, जवाबदेही और अधिकार
(Transparency, Accountability and Rights)

लोकतंत्र में जवाबदेही, उत्तरदायित्व और पारदर्शिता सुशासन के अनिवार्य अंग हैं। सरकार नीतियों के निर्माण और क्रियान्वयन के माध्यम से जन कल्याण और जनोन्मुखी प्रशासन का लक्ष्य सुनिश्चित करती है। लोकतंत्र का अर्थ तभी सार्थक हो सकता है, जब सरकार जनता के प्रति अपनी जवाबदेही सुनिश्चित करे और प्रशासन में पारदर्शिता अपनाए। इसके लिये प्रशासनिक उत्तरदायित्व पर जन नियंत्रण आवश्यक है। प्रशासनिक उत्तरदायित्व को सरकारी कर्मचारियों के कर्त्तव्यों एवं जिम्मेदारी की व्यक्तिगत चेतना पर नहीं छोड़ा जा सकता। सुशासन की अवधारणा में पारदर्शिता और जवाबदेही आदि शासन की निरंकुशता पर नियंत्रण के लिये शक्तिशाली और प्रभावी उपाय हैं जो न केवल शासन को मार्ग पर भटकने से रोकते हैं अपितु उसे अधिकाधिक जनोन्मुखी भी बनाते हैं।

उत्तरदायित्व और नियंत्रण का संकेत यहाँ प्रशासन के उत्तरदायित्व तथा उसके पूर्ण पालन करने एवं सत्ता के दुरुपयोग रोकने से है। प्रशासनिक उत्तरदायित्व शब्द को जन संपत्ति की सुरक्षा के संबंध में अभिलेख रखने के सूचक के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है। उत्तरदायित्व की अवधारणा प्रशासकों की उस बाध्यता को परिभाषित करती है जिसके तहत उन्हें अपने कार्य निष्पादन का और उन्हें प्रदान की गई शक्तियों के प्रारूप का संतोषजनक लेखा-जोखा देना होता है। इसका मुख्य लक्ष्य मनमाने और गलत प्रशासनिक कार्यों को रोकना और प्रशासनिक प्रक्रिया की कार्यकुशलता तथा प्रभावशीलता को बढ़ाना है।

प्रशासन पर नियंत्रण मुख्यत: दो तरह से होता है–

1. आंतरिक नियंत्रण
2. बाह्य नियंत्रण

सूचना का अधिकार और सूचना आयोग (Right to Information and Information Commission)

सूचना का अधिकार अर्थात् राइट टू इन्फॉरमेशन का अर्थ है देश के नागरिकों को कुछ क्षेत्रों को छोड़कर (जैसे राष्ट्रीय सुरक्षा का विषय जिन्हें सार्वजनिक नहीं किया जा सकता) विभिन्न सूचनाएँ प्राप्त करने का अधिकार। सूचना के अधिकार के माध्यम से, कोई राष्ट्र अपने नागरिकों के लिये अपने कार्य और शासन प्रणाली को सार्वजनिक करता है।

लोकतंत्र में जनता अपनी पसंद के व्यक्ति को शासन करने का अवसर प्रदान करती है। जनता की आकांक्षा होती है कि सरकार, पूरी ईमानदारी और कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ अपने दायित्वों का पालन करे। परंतु समस्या यह है कि जन-निर्वाचित सरकार स्वयं को जनता का सेवक समझने के स्थान पर उसका अधिपति समझने लगती है। ऐसी सरकारों ने पारदर्शिता और ईमानदारी को किनारे कर दिया और धीरे-धीरे उन्होंने भ्रष्टाचार और कुशासन के कीर्तिमान स्थापित करना शुरू कर दिया। इस समस्या से निपटने के लिये अन्य उपायों के साथ-साथ यह भी ज़रूरी था कि देश की जनता जब चाहे तब सरकार और उसके विभिन्न विभागों की स्थिति के बारे में जानकारी ले सके। सरकार पर जन-नियंत्रण को धारदार बनाने के इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये जनता को सूचना का अधिकार प्रदान किया गया, ताकि जनता हर समय इस बात से अवगत रहे कि उसकी सेवा करने वाली सरकार वास्तव में क्या कर रही है? प्रत्येक नागरिक कर का भुगतान करता है, अत: यह उसका अधिकार है कि उसको यह जानकारी दी जाए कि उसके द्वारा अदा की गई कर राशि का उपयोग किस प्रकार और किन-किन कार्यों के लिये किया जाता है।

सूचना के अधिकार की प्राप्ति का प्रयास वर्ष 1975 में 'उत्तर प्रदेश सरकार बनाम राज नारायण' मामले से हुआ। मामले की सुनवाई उच्चतम न्यायालय में हुई, जिसमें न्यायालय ने अपने आदेश में लोक प्राधिकारियों द्वारा सार्वजनिक कार्यों का ब्यौरा जनता को प्रदान करने की व्यवस्था की। इस निर्णय ने नागरिकों को भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19(A) में प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का दायरा बढ़ाकर सूचना के अधिकार को भी इसमें शामिल कर लिया। 2005 में संसद ने सूचना का अधिकार अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम में यह व्यवस्था की गई कि कोई नागरिक किस प्रकार सरकार से सूचना मांगेगा और सूचना देने के प्रति सरकार की जवाबदेही क्या होगी?

सूचना के अधिकार कानून का प्रावधान यह है कि प्रत्येक सार्वजनिक संस्था में सूचना अधिकारी की नियुक्ति होगी। यदि आवेदक को लगता है कि लोक सूचना अधिकारी द्वारा प्रदत्त सूचना अपर्याप्त है या आवेदक को सूचना नहीं दी जाती है, तो आवेदक दो स्तरों पर अपील का अधिकार रखता है-

- प्रथम अपील उसी संस्था के वरिष्ठ लोक सूचना अधिकारी से होती है।

20 लोक सेवाएँ (Public Services)

भारत में लोक सेवाओं का आरंभ ब्रिटिश शासन की औपनिवेशिक आवश्यकताओं एवं साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं को ध्यान में रखते हुए अंग्रेज़ों के द्वारा किया गया था। कंपनी के शासनकाल में लोक सेवकों का चयन हेलीबेरी कॉलेज की एक चयन समिति तथा बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स द्वारा किया जाता था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार द्वारा ब्रिटिशकाल में प्रचलित लोक सेवाओं की योजना को कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया गया। ब्रिटिश शासनकाल में भारत में लोक सेवाओं का विकास निम्नलिखित रूप में हुआ–

- 1854 में एक आयोग (The committee on Indian civil services) का गठन किया गया था, जिसकी अध्यक्षता मैकाले द्वारा की गई थी। लोक सेवकों की नियुक्ति प्रतियोगी परीक्षा के आधार पर कराने के संबंध में सुझाव देने के लिये इस आयोग का गठन किया गया था।
- 1855 में लंदन में भारतीय सिविल सेवा की पहली प्रतियोगी परीक्षा आयोजित की गई थी।
- 1866 में भारत में सिविल सेवा परीक्षा की न्यूनतम आयु सीमा 18 वर्ष से घटाकर 17 वर्ष कर दी गई।
- 1886 में वायसराय लॉर्ड डफरिन ने सर चार्ल्स एचिसन की अध्यक्षता में एचिसन आयोग का गठन किया जो सिविल सेवा में आयु से संबंधित मामले के संदर्भ में था। आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये–
  - सिविल सेवा परीक्षाएँ एक साथ इंग्लैंड और भारत में न ली जाएँ।
  - सिविल सेवा परीक्षा में बैठने की अधिकतम आयु 23 वर्ष किया जाए।
- 1912 में इस्लिंगटन की अध्यक्षता में एक अन्य आयोग का गठन हुआ। इस आयोग ने सुझाव दिया कि सिविल सेवा की प्रतियोगी परीक्षा इंग्लैंड तथा भारत में एक साथ ली जाए।
- सर्वप्रथम 1922 में सिविल सेवा की परीक्षा एक साथ लंदन तथा इलाहाबाद में आयोजित हुई।
- वे सेवाएँ जो भारत की केंद्रीय सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण में थीं उन्हें केंद्रीय सेवाओं का नाम दिया गया तथा इन सेवाओं में नियुक्ति गवर्नर जनरल के द्वारा की जाती थी। सिविल सेवाओं को ऐसा व्यवस्थित रूप भारत शासन अधिनियम के द्वारा प्रदान किया गया।
- 1926 में ली आयोग के सुझाव पर पहली बार लोक सेवा आयोग की स्थापना केंद्रीय लोक सेवा आयोग के रूप में की गई, जिसमें एक अध्यक्ष तथा चार अन्य सदस्य थे। इसके प्रथम अध्यक्ष सर रोज वार्कर थे।
- भारत सरकार अधिनियम, 1935 के तहत इस केंद्रीय लोक सेवा आयोग का नाम बदलकर संघीय लोक सेवा आयोग कर दिया गया।
- 26 जनवरी, 1950 को भारतीय संविधान लागू होने पर लोक सेवा आयोग का नाम बदलकर संघ लोक सेवा आयोग कर दिया गया।

लोक सेवाओं की संवैधानिक स्थिति (Constitutional Status of Public Services)

लोक सेवाओं के संदर्भ में जिस प्रकार की योजना ब्रिटिश शासनकाल में प्रचलित थी, उस योजना को स्वतंत्रता के उपरांत भारत में अपनाने के लिये भारतीय संविधान में कुछ आवश्यक परिवर्तन करके उसे स्वीकार कर लिया गया। लोक सेवाओं की संवैधानिक स्थिति के संबंध में भारतीय संविधान के भाग-XIV के अनुच्छेद 308 से 314 तक में संघ लोक सेवाओं के संबंध में प्रावधान किया गया है।

- ब्रिटिश शासन के समान ही देश (भारत) की सेवाएँ तीन भागों में विभक्त हैं किंतु इनके नामों में परिवर्तन कर दिया गया। ये सेवाएँ निम्न हैं– 1. अखिल भारतीय सेवाएँ, 2. केंद्रीय सेवाएँ, 3. राज्यों की सेवाएँ

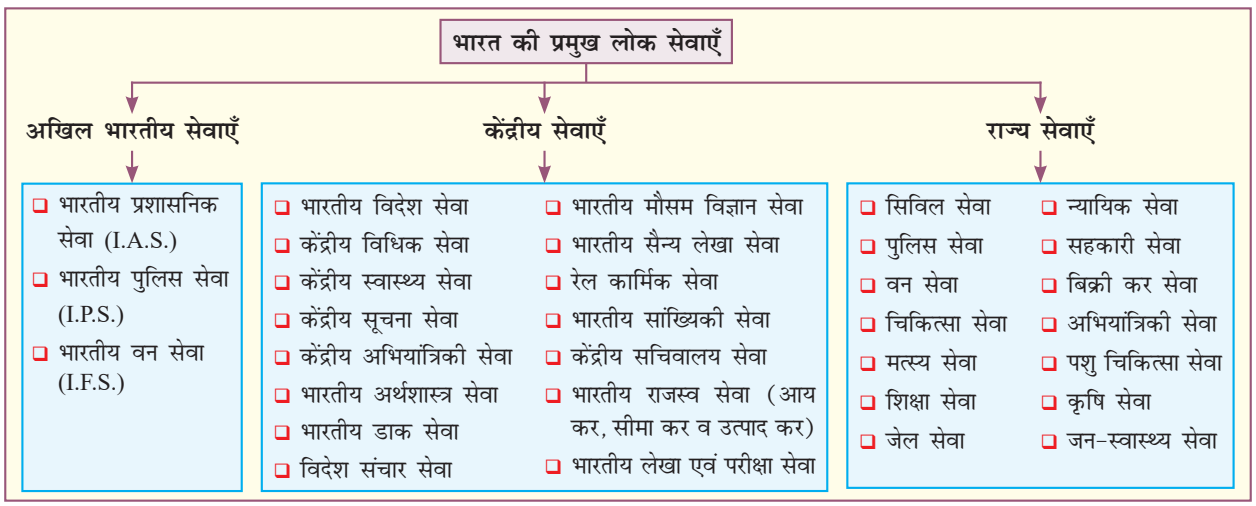

21 वित्तीय नियंत्रण एवं संसदीय समितियाँ
(Financial Control and Parliamentary Committees)

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में आवश्यक है कि सार्वजनिक व्यय पर नियंत्रण रखा जाए। भारत की केंद्र एवं राज्य सरकारें इस सार्वजनिक व्यय पर नियंत्रण रखने के लिये विभिन्न समितियों का गठन करती हैं। यें समितियाँ न केवल वित्तीय नियंत्रण रखती हैं बल्कि यह भी पता लगाती हैं कि स्वीकृत धन स्वीकृत कार्यों और शर्तों के अनुसार खर्च हुआ है या नहीं। इस प्रकार लोकतांत्रिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने एवं सार्वजनिक व्यय पर नियंत्रण रखने के लिये वित्तीय नियंत्रण एवं संसदीय समितियों का अहम योगदान है।

सार्वजनिक निधि का उपयोग (Use of Public Fund)

सरकार के पास जो भी धन होता है, उसे सार्वजनिक निधि कहते हैं। सार्वजनिक निधि के द्वारा ही सरकार अपने सभी प्रकार के व्यय एवं विभिन्न लोक कल्याणकारी कार्य करती है। सरकार अपने उपक्रमों से जो धन प्राप्त करती है वह भी सार्वजनिक निधि के अंतर्गत आता है। इस प्रकार वास्तव में सार्वजनिक निधि राष्ट्र की निधि है और सरकार का दायित्व है कि वह उसका सदुपयोग करे। भारतीय संविधान में सार्वजनिक निधि के संबंध में तीन प्रकार के खातों का उल्लेख है- संचित निधि, लोक लेखा निधि एवं आकस्मिकता निधि।

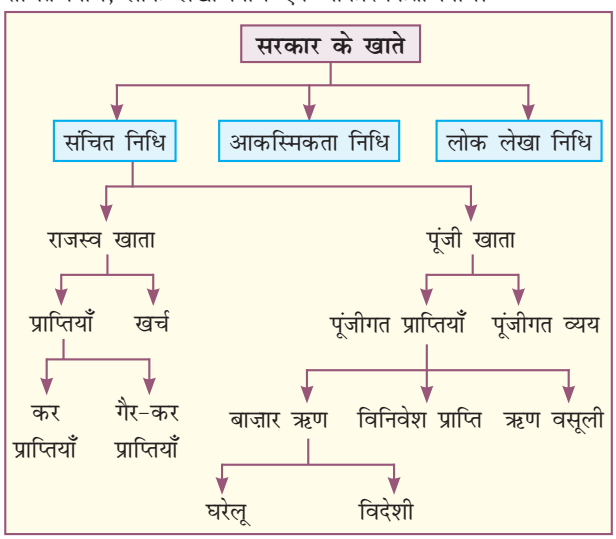

संचित निधि *(Consolidated fund)* [अनुच्छेद 266(1)]

यह एक ऐसी निधि है, जिसमें से सभी प्राप्तियाँ उधार ली जाती हैं और भुगतान जमा किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में-

- भारत सरकार द्वारा प्राप्त सभी राजस्व
- राजकोषीय विधेयकों, छूटणों या अग्रिम अर्थोपाय को जारी तथा केंद्र सरकार द्वारा लिये गए सभी ऋण
- ऋणों की पुनर्अदायगी में सरकार द्वारा प्राप्त धनराशि भारत की संचित निधि का भाग होगी। भारत सरकार की ओर से विहित प्राधिकृत सभी भुगतान इसी निधि में से किये जाते हैं। संचित निधि में से धन निकालने के लिये संसद विनियोग विधेयक पारित करती है। अनुच्छेद 266 में प्रत्येक राज्य के लिये राज्य की संचित निधि का उपबंध है।

लोक लेखा निधि *(Public Account Fund)* [अनुच्छेद 266(2)]

सरकार कभी-कभी ऐसा धन प्राप्त करती है जिस पर उसका स्वामित्व नहीं होता, जैसे- भविष्य निधि जमा, न्यायिक जमा, डाकघर बचत जमा आदि। कोई भी अधिकारी जिसने ऐसा धन संगृहीत किया है या जो उसके पास जमा किया गया है उसे वह अपनी अभिरक्षा में नहीं रखेगा। वह, यथास्थिति, लोक लेखा निधि में जमा किया जाएगा। दूसरे शब्दों में, जो धन संचित निधि में नहीं जाता है, वह लोक लेखा निधि में जाएगा। लोक लेखा निधि के धन पर सरकार का कोई अधिकार नहीं होता है। इस संबंध में सरकार केवल एक बैंकर की तरह कार्य करती है।

आकस्मिकता निधि *(Contingency Fund)* (अनुच्छेद 267)

भारतीय संविधान संसद को आकस्मिकता निधि के गठन की अनुमति प्रदान करता है। आकस्मिकता निधि एक अग्रदाय निधि होती है जिसमें विधि द्वारा निर्धारित राशि संचित निधि में से अंतरित कर दी जाती है। जहाँ कोई ऐसा व्यय करने की आवश्यकता पड़ती है जिसके लिये संसद ने मंजूरी नहीं दी तो आकस्मिकता निधि में से धन निकाला जाता है। बाद में जब संसद स्वीकृति दे देती है तो आकस्मिकता निधि में से निकाली गई राशि की भरपाई कर दी जाती है। आकस्मिकता निधि को राष्ट्रपति की ओर से वित्त सचिव द्वारा रखा जाता है और इससे धन निकालने के लिये राष्ट्रपति की अनुमति लेनी पड़ती है।

लोक व्यय पर संसदीय नियंत्रण (Parliamentary Control on Public Expenditure)

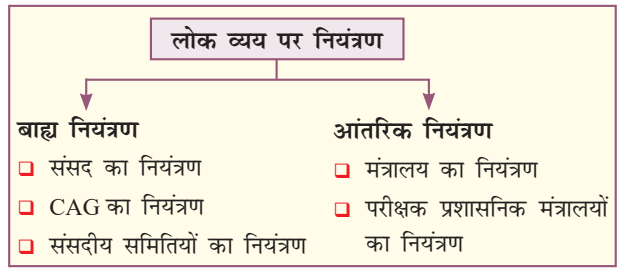

22 लोक नीति एवं अधिकार
(Public Policy and Authority)

लोक नीति में 'लोक' से तात्पर्य 'सरकार' से है तथा सरकार द्वारा निर्मित नीतियों को 'लोक नीति' कहा जाता है। लोक नीति एक जटिल प्रक्रियात्मक प्रक्रिया है जो विभिन्न पारिस्थितिकीय प्रवृत्तियों, जैसे– सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक आदि से प्रभावित होती है। साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि जनता की विविध मांगों की पूर्ति के लिये सरकार द्वारा जिन नीतियों का निर्माण किया जाता है, उन्हें लोक नीति कहते हैं।

लोक नीति (Public Policy)

किसी भी लोकतांत्रिक देश में शासन अपनी इच्छाओं को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिये लोक नीतियों को अपनाता है। अर्थात् लोक नीति सरकार के दृष्टिकोण को प्रतिबिंबित करती है। किसी भी प्रकार की शासन व्यवस्था उसकी लोक नीति के स्वरूप व उसकी सफलता से जानी जाती है।

शासन की प्रधान प्रक्रियाओं में से एक नीति-निर्माण की प्रक्रिया को लोक प्रशासन का सार कहा जाता है। लोक शब्द जहाँ सामाजिकता तथा सार्वजनिकता को दर्शाता है वहीं नीति से तात्पर्य यह निर्णय करना होता है कि क्या किया जाए, कब किया जाए, कहाँ किया जाए तथा कैसे किया जाए?

लोक नीति के संबंध में प्रमुख विद्वानों ने निम्नलिखित विचार दिये हैं-

थॉमस आर. डाई के अनुसार, "लोक नीति का संबंध उन सभी बातों से है, जो सरकार करने अथवा न करने का निर्णय लेती है।"

टैरी के अनुसार, "लोक नीति उस कार्यवाही की शाब्दिक, लिखित व विहित बुनियादी मार्गदर्शक है जिसे प्रबंधक अपनाता है और जिसका अनुगमन करता है।"

प्लोडन के अनुसार, "किसी देश की सरकार के प्रत्येक स्तर पर नीतियों का निर्माण किया जाता है, वे सब वास्तव में लोक नीतियाँ ही हैं।"

डिमॉक के अनुसार, "नीतियाँ सजगता से निर्धारित आचरण के वे नियम हैं जो प्रशासनिक निर्णयों का मार्ग दिखाते हैं।

पॉल जे. फ्रेडरिक, "इस परिस्थिति में क्या करना है या नहीं करना है, के संबंध में किये गए निर्णय ही नीतियाँ हैं।"

लोक नीति के प्रकार *(Types of public policy)*

लोक नीति को लोक प्रशासन के अंतर्गत समग्र रूप से लोक नीति प्रक्रिया कहा जाता है। इसमें नीति-निर्माण एवं नीति क्रियान्वयन को सम्मिलित किया जाता है। भारतीय लोक प्रशासन में लोक नीति को प्राय: दो आधारों पर वर्गीकृत किया जाता है।

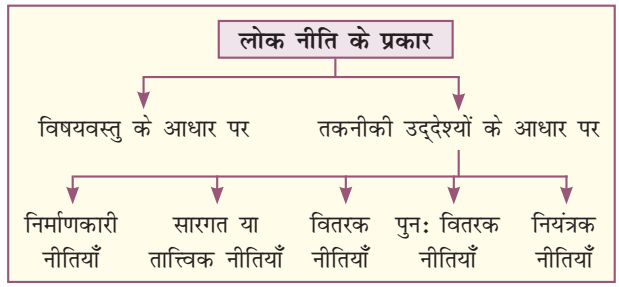

विषयवस्तु के आधार पर *(On the Basis of Subject Matter)*

लोक नीति में विषयवस्तु के आधार पर नीतियाँ सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सुरक्षा संबंधी हो सकती हैं। उदाहरणस्वरूप सामाजिक क्षेत्र में जनसंख्या नीति, महिला कल्याण एवं सशक्तीकरण नीति एवं शिक्षा नीति आदि महत्त्वपूर्ण हैं। आर्थिक क्षेत्र में मौद्रिक नीति तथा राजनीतिक क्षेत्र में प्रतिरक्षा नीति, आंतरिक सुरक्षा नीति व विदेश नीति महत्त्व रखती हैं।

तकनीकी उद्देश्यों के आधार पर *(On the Basis of Technical Objectives)*

लोक नीति के तकनीकी उद्देश्यों के आधार पर निम्नलिखित प्रकार हैं-

निर्माणकारी नीतियाँ

ऐसी नीतियाँ जिनके तहत किसी क्षेत्र विशेष में विशिष्ट उद्देश्यों से नई संस्थाओं का गठन किया जाता है या पुरानी संस्थाओं का पुनर्गठन किया जाता है, निर्माणकारी नीतियाँ कहलाती हैं। उदाहरणस्वरूप राष्ट्रीय एवं राज्य महिला आयोग, राष्ट्रीय एवं राज्य मानवाधिकार आयोग आदि।

सारगत या तात्त्विक नीतियाँ

ऐसी नीतियाँ जिनका संबंध किसी वर्ग विशेष से न होकर पूरे समाज के विकास एवं कल्याण से हो सारगत या तात्त्विक नीतियाँ कहलाती हैं। संविधान एवं समाज की आवश्यकता इस नीति के उद्भव का कारण होती है। उदाहरणस्वरूप प्रदूषण नियंत्रण कानून, कानून और व्यवस्था बनाए रखना, शिक्षा एवं रोज़गार का प्रबंधन आदि।

वितरक नीतियाँ

समाज के विशिष्ट वर्गों के लिये इन नीतियों का निर्माण किया जाता है। ऐसी नीतियों का संबंध मुख्यरूप से लोक कल्याण व स्वास्थ्य क्षेत्र से होता है। इनमें मुख्य रूप से लोक कल्याण एवं उससे संबंधित सहायता कार्यक्रमों को सम्मिलित किया जाता है। उदाहरणस्वरूप– बालवाड़ी पोषाहार कार्यक्रम, इंदिरा महिला योजना, समेकित बाल विकास कार्यक्रम आदि।

23 वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य
(Current Political Scenario)

भारत की राजनीति संविधान के अनुसार काम करती है, क्योंकि भारत एक संघीय (संसदीय) लोकतांत्रिक गणराज्य है। भारतीय राजनीति को गतिशीलता प्रदान करने हेतु विभिन्न कारकों का योगदान है। जैसे– जाति, धर्म, लिंग, भाषा आदि भारतीय राजनीति को प्रभावित करती है, परंतु भारत की इस विविधता का जब राजनीतिक दलों द्वारा राजनीतीकरण कर दिया जाता है तो यह एक सुचारु राजनीति में बाधा भी उत्पन्न करती है।

भारतीय राजनीति में धर्म, जाति, भाषा एवं लिंग की भूमिका (Role of Religion, Caste, Language and Gender in Indian Politics)

भारतीय समाज एक परंपरावादी एवं विविधतापूर्ण समाज रहा है। इस परंपरावादी एवं विविधतापूर्ण समाज में आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना भारतीय राजनीति की एक अद्‌भुत विशेषता है। भारत में आधुनिक राजनीति स्थापित होने के बाद इस अवधारणा का विकास हुआ था कि पश्चिमी शैली की राजनीति और लोकतांत्रिक मूल्यों को अपनाने के बाद भारत की पारंपरिक राजनीतिक संस्थाओं में जाति, धर्म, भाषा एवं लिंग आधारित विविधता का अंत हो जाएगा, किंतु स्वतंत्रता के बाद भारत की राजनीति में धर्म, जाति, भाषा एवं लिंग का प्रभाव अनवरत रूप से बढ़ता गया। जहाँ सामाजिक क्षेत्र में इनका प्रभाव कम हुआ है, वहीं बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों, केंद्र एवं राज्य सरकारों ने राजनीति में इनकी भूमिका स्वीकार की है।

भारतीय राजनीति में धर्म *(Religion in Indian Politics)*

भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्त्वों में 'धर्म और सांप्रदायिकता' को अत्यंत प्रभावशाली माना गया है। जहाँ एक ओर धर्म का प्रयोग तनाव उत्पन्न करने के लिये किया जाता है, वहीं दूसरी ओर धर्म को प्रभाव और शक्ति अर्जित करने का एक माध्यम भी मान लिया जाता है। धर्म के नाम पर राजनीतिक दलों का निर्माण, चुनावों में समर्थन एवं मत प्राप्त करने के लिये धर्म का सहारा लेना, धर्म के नाम से जनता से अपील करना, आश्वासन देना, निर्वाचनों में धर्म के आधार पर प्रत्याशियों का चयन करना तथा मतदान व्यवहार में धर्म का राजनीतिक स्वरूप देखने को मिलता है। वहीं यह भी सत्य है कि भारतीय संविधान ने पंथनिरपेक्ष सिद्धांत को अपनाया है। भारतीय राजनीति में धर्म की निम्नलिखित भूमिका देखी जाती है–

राजनीतिक दलों में धर्म की भूमिका

स्वतंत्रता पूर्व ही भारत में धर्म के आधार पर राजनीतिक दलों का निर्माण होने लगा था, जैसे– मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा आदि। धर्म के नाम पर भारत का विभाजन होने के बावजूद ये राजनीतिक दल न केवल अस्तित्व में रहे बल्कि धार्मिक सांप्रदायिकता को बढ़ावा देते रहे हैं। ये सांप्रदायिक दल धर्म को राजनीति में प्रधानता देते रहें। धर्म के आधार पर प्रत्याशियों का चुनाव करते हैं और संप्रदाय के नाम पर वोट मांगते हैं। चुनाव के समय गोवध पर रोक लगाना, मंदिर-मस्जिद के निर्माण का मुद्‌दा आदि उठाकर ये दल चुनावी गतिविधियों को दुष्प्रभावित करते हैं। वर्तमान में भारत की लगभग सभी राष्ट्रीय एवं राज्य स्तरीय राजनीतिक दलों में यह प्रवृत्ति देखी जाती है। वे न केवल धर्म को चुनाव का आधार बनाते हैं बल्कि उसके नाम पर वोट की राजनीति भी करते हैं।

धार्मिक दबाव गुट की राजनीति में भूमिका

धार्मिक संगठन भारतीय राजनीति में सशक्त दबाव समूह की भूमिका अदा करते हैं। ये समूह न केवल शासन की नीतियों को प्रभावित करते हैं बल्कि अपने पक्ष में अनुकूल निर्णय भी करवाते हैं। उदाहरण के रूप में हिंदुओं की आपत्ति और आलोचना के बावजूद 'हिंदू कोड बिल' पास कर दिया गया, किंतु अन्य संप्रदाय के संबंध में कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया। भारत में कई मुस्लिम संगठनों के विरोध के कारण एक समान सिविल संहिता का निर्माण नहीं हो सका है। 'ट्रिपल तलाक' अमानवीय होने के बावजूद इसके समर्थन में सरकारें शांत रही हैं और मुस्लिम पर्सनल लॉ में कोई तब्दीली नहीं की गई है। हिंदू परिषद के दबाव के कारण ही उच्चतम न्यायालय को फरवरी 2003 में भूमि पूजन पर लगाई गई रोक को वापस लेना पड़ा।

पृथक् राज्यों की मांग में धर्म की भूमिका

अनेक बार अप्रत्यक्ष रूप से पंथ के आधार पर पृथक् राज्य की मांग भी की जाती है। पंजाब में अकाली दल द्वारा अलग राज्य की मांग ऊपरी स्तर पर तो भाषायी नज़र आती है परंतु यथार्थ रूप से यह धर्म के आधार पर पृथक् राज्य की मांग थी। नवंबर 1949 ई. में मास्टर तारासिंह ने पूर्वी पंजाब में एक 'सिक्ख प्रांत' की मांग करते हुए कहा, 'पूर्वी पंजाब के हिंदू संकीर्ण हृदय वाले संप्रदायी हो गए और सिक्खों को उनसे उचित व्यवहार की आशा नहीं रह गई है, पुराने पंजाब राज्य के विभाजन का आधार धर्म ही रहा है। आगे कुछ ऐसा ही नगालैंड के ईसाई समुदाय ने भी पृथक् राज्य की मांग का आधार तैयार किया।

मंत्रिमंडल के निर्माण में धर्म की भूमिका

केंद्र एवं राज्यों के मंत्रिमंडल के निर्माण में भी हमेशा इस बात को ध्यान में रखा जाता है कि प्रमुख धार्मिक संप्रदायों के लोगों को उनमें प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाए। केंद्रीय मंत्रिमंडल के निर्माण में मुस्लिम, सिक्ख और ईसाइयों को सदैव प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

राज्यों की राजनीति में धर्म की भूमिका

धर्म और विभिन्न सांप्रदायिक समुदायों की भारतीय राज्यों की राजनीति में काफी भूमिका देखी जा सकती है। उदाहरण के लिये केरल की राजनीति का ऊपरी आवरण तो वामपंथी रंग का दिखता है, किंतु

खंड B

अंतर्राष्ट्रीय संबंध

24 भारत का अन्य देशों से संबंध तथा प्रमुख संगठन एवं संस्थाएँ (India's Relations with other Countries and Important Organizations & Institutions)

अंतर्राष्ट्रीय संबंध (International Relations)

अंतर्राष्ट्रीय संबंध से तात्पर्य दो या अधिक राष्ट्रों के मध्य संबंधों के स्वरूप से है, जिसमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं सामरिक संबंध स्थापित होते हैं। दो या दो से अधिक राष्ट्रों के मध्य संबंधों का निर्धारण अनेक पहलुओं के द्वारा निर्धारित होता है, जिसमें शामिल हैं- राष्ट्र की शासन व्यवस्था, भौगोलिक अवस्थिति, संसाधनों की उपलब्धता, सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक विकासक्रम, विचारधारा एवं ऐतिहासिक मूल्य इत्यादि। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को अंतर्राष्ट्रीय संगठन, वैश्विक व्यापार प्रतिरूप एवं नेतृत्व क्षमता भी प्रभावित करती है। राष्ट्र की सुरक्षा एवं संपन्नता को सुनिश्चित करने के लिये न सिर्फ पड़ोसी देशों के साथ बल्कि अन्य राष्ट्रों के साथ भी सकारात्मक एवं सौहार्द्रपूर्ण संबंध सहायक सिद्ध होते हैं।

चूँकि मध्य युग तक राष्ट्र-राज्यों का अस्तित्व ही नहीं था, तकनीकी दृष्टि से उस समय से पूर्व अंतर्राष्ट्रीय संबंध भी संभव नहीं थे। तथापि, इस बात के स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है कि प्राचीन काल में अंतर्राष्ट्रीय मामलों को उजागर करने वाली राजनीतिक गतिविधियाँ प्रत्यक्ष थीं। हालाँकि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में राष्ट्र-राज्य व्यवस्था की अवधारणा के उदय के संकेत 1648 की वेस्टफेलिया की संधि (Westphalia Treaty) से मिलते हैं, जिसने यूरोप में तीस वर्षों (1618-1648) के युद्ध को समाप्त कर दिया। यह संधि राज्य व राज्य-व्यवस्था को कानूनी मान्यता देती थी। वास्तव में इसके द्वारा दो राज्यों- स्विट्ज़रलैंड और नीदरलैंड का निर्माण हुआ। इसके बाद यूरोपीय शासकों ने रोमन कैथोलिक चर्च की सत्ता को अस्वीकार कर दिया।

कालांतर में राष्ट्र-राज्य की अवधारणा ने न केवल विभिन्न अर्थ एवं रूप ग्रहण किये हैं बल्कि इसकी सत्ता ने नवीन उपलब्धियों का भी सामना किया है। हाल के वर्षों में व्यापार, उत्पादन और वित्त का वैश्वीकरण, संचार एवं परिवहन के क्षेत्र में क्रांति, तकनीक एवं शस्त्रों के विस्तार तथा पर्यावरणीय एवं सतत् सामरिक संकट ने ऐसी समस्याएँ खड़ी की हैं, जिनका समाधान राष्ट्र-राज्यों की संरचना के अंतर्गत नहीं किया जा सकता। यह अधिराष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक संस्थाओं की खोज एवं विस्तार को अनिवार्य बनाता है जो कि राष्ट्रीय संप्रभुता (National Sovereignty) के परंपरागत मूल्य को दुर्बल बना सकता है। त्वरित वैश्वीकरण (Globalization) के सांस्कृतिक प्रभाव अपने साथ उन विघटनकारी तत्त्वों को भी ला रहे हैं, जो समाज को अधोपतन की ओर प्रवृत्त करते हैं और जो पुरानी सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इकाइयों को विखंडित कर सकते हैं। अधोगमन की यह प्रवृत्ति पश्चिम के आर्थिक रूप से उन्नतिशील राष्ट्र-राज्यों में अधिक दिखाई देती है तथा इसका उद्देश्य राष्ट्र-राज्यों की एक संस्था के रूप में उनकी सत्ता के साथ-साथ उनके महत्त्व एवं औचित्य को भी कम करना प्रतीत होता है।

वर्तमान परिवेश में, किसी भी देश या नगर-राज्य के नागरिक के लिये केवल अपने ही देश के बारे में सोचना बिल्कुल भी यथार्थपरक नहीं होगा। ध्यातव्य है कि अमेरिका में 11 सितंबर, 2001 में घटी घटना ने वैश्विक ग्राम (Global Village) के विषय में हमारी पुरानी धारणा को ही स्पष्ट किया अर्थात् इस एक घटना ने यह साफ कर दिया कि यदि किसी दूरस्थ गाँव के किसी कोने में अवस्थित फूस की झोंपड़ी अथवा धूल भरे किसी शिविर में आग लगती है तो यह हमारे वैश्विक ग्राम के दूसरे छोर पर अवस्थित ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं में लगी इस्पात की चादरों को भी पिघला सकती है। अन्य शब्दों में, आज विश्व में जो मुद्दे कभी दूर के लगते थे, वे अब आपके आँगन में आ गए हैं। अत: हमारा विकल्प स्पष्ट होना चाहिये कि यदि हमें अपने देश में अपनी इच्छा के अनुरूप समाज का निर्माण करना है और इसे बनाए रखना है तो हमें वैश्विक स्तर पर भी निश्चित रूप से सक्रिय रहना होगा।

वर्तमान में भारत पर अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। हमारा स्वास्थ्य, हमारी सुरक्षा, हमारी संवृद्धि एवं समृद्धि के साथ-साथ हमारे जीवन की गुणवत्ता भी उत्तरोत्तर इस बात से प्रभावित होती है कि देश की सीमा के पार क्या हो रहा है? यही कारण है कि हम पड़ोस में होने वाली घटनाओं को नज़रअंदाज़ करने का साहस नहीं कर सकते, बेशक ये घटनाएँ कहीं दूर घटती प्रतीत होती हों। दरअसल, आज के विश्व में आपको दूसरों के संबंध में जानकारी रखना लाभकारी ही होगा।

भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका (India and United States of America)

संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व का सबसे पुराना लोकतंत्र होने के साथ एक महाशक्ति है जो वैश्विक परिदृश्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है तथा अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं एवं नीतियों को प्रभावित करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व व्यवस्था में संतुलन बनाए रखने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस क्रम में भारत के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ संबंधों को व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाना अनिवार्य हो जाता है। शीत युद्ध के पहले तथा बाद में भारत-अमेरिकी संबंधों में प्राय: उतार-चढ़ाव देखे गए, जिसका प्रमुख कारण दोनों देशों के द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु प्रयत्न तथा वैश्विक शक्ति संतुलन स्थापित करने हेतु व्यवस्था निर्माण के रूप में देखा जा सकता है।

भारत-अमेरिकी संबंधों में सहयोग के मुद्दे *(Issues of Co-operation Between India and USA)*

- दोनों देश लोकतांत्रिक व्यवस्था से संचालित होते हैं।
- भारत तथा अमेरिका दोनों ही मुक्त अर्थव्यवस्था तथा उदारवाद को प्रोत्साहन देते हैं।

Think IAS

दृष्टि The Vision

Think Drishti

घर बैठे IAS/PCS की संपूर्ण तैयारी करने के लिये आपका स्वागत है

Drishti Learning App

पर

GET IT ON Google Play

अपने एंड्रॉयड फोन पर आज ही इंस्टॉल करें

ऐप की विशेषताएँ

- टीम दृष्टि द्वारा दी जाने वाली सभी सुविधाएँ एक ही मंच पर।
- ऑनलाइन, पेनड्राइव मोड में कक्षाएँ उपलब्ध।
- प्रिलिम्स और मेन्स की टेस्ट सीरीज़ भी ऐप के माध्यम से उपलब्ध।
- सभी पुस्तकें, मैगजीन, डिस्टेंस लर्निंग प्रोग्राम के नोट्स देखने व मंगवाने की सुविधा।

ऑनलाइन कोर्स की विशेषताएँ

- घर बैठे देश के सर्वोत्कृष्ट अध्यापकों से पढ़ने की सुविधा।
- अब दिल्ली या किसी बड़े शहर जाकर पढ़ने की मजबूरी नहीं।
- IAS और PCS के कोर्स उपलब्ध।
- ऑनलाइन कोर्स करने के बाद, क्लासरूम कोर्स में प्रवेश लेने पर शुल्क में विशेष छूट।
- हर क्लास अपनी सुविधा से 3 बार देखने की सुविधा।
- उत्तर लिखकर चेक कराने तथा संदेह-समाधान की व्यवस्था भी शीघ्र उपलब्ध।
- कई विषयों के कोर्स ऑनलाइन और पेनड्राइव मोड में भी उपलब्ध।

दृष्टि आई.ए.एस. (दिल्ली शाखा) का पता
641, प्रथम तल, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली-09
8448485519, 87501 87501, 011-47532596

दृष्टि आई.ए.एस. (प्रयागराज शाखा) का पता
ताशकंद मार्ग, निकट पत्रिका चौराहा, सिविल लाइन्स, प्रयागराज
8448485518, 8750187501, 8929439702

दृष्टि आई.ए.एस. (राजस्थान शाखा) का पता
प्लॉट नंबर-45 व 45-A, हर्ष टावर-2, मेन टोंक रोड़,
वसुंधरा कॉलोनी, जयपुर राजस्थान-302018
8448485518, 8750187501, 8929439702

दृष्टि लर्निंग ऐप पर उपलब्ध प्रमुख कोर्सेज़

IAS Foundation Course

सामान्य अध्ययन

प्रिलिम्स + मेन्स

- 1200+ घंटों की 500+ कक्षाएँ
- सभी टॉपिक के लिये प्रिंटेड नोट्स
- 3 वर्षों के लिये अन्य विशेष सुविधाएँ

IAS Foundation Course

General Studies

Prelims + Mains

- 400+ Classes of 1000+ hrs.
- Printed Notes of All Segments
- Other special facilities for 3 years

IAS Prelims Course

सामान्य अध्ययन

केवल प्रिलिम्स

- 500+ घंटों की कक्षाएँ
- 'क्विक बुक सीरीज़' की 8 पुस्तकें
- 2 वर्षों के लिये अन्य विशेष सुविधाएँ

IAS + UPPCS + BPSC Optional Subject

हिंदी साहित्य

द्वारा- डॉ. विकास दिव्यकीर्ति

- 400+ घंटों की कक्षाएँ
- पाठ्यक्रम में शामिल सभी पाठ्य-पुस्तकें तथा प्रिंटेड नोट्स
- 145 दैनिक अभ्यास प्रश्न और 18 टेस्ट पेपर (मॉडल उत्तर सहित)

BPSC Prelims Course

बिहार PCS

- 500+ घंटों की कक्षाएँ
- 'BPSC सीरीज़' की 8 पुस्तकें
- 2 वर्षों के लिये अन्य विशेष सुविधाएँ

RAS/RTS Prelims Course

राजस्थान PCS

- 500+ घंटों की कक्षाएँ
- 'RAS सीरीज़' की 8 पुस्तकें
- 2 वर्षों के लिये अन्य विशेष सुविधाएँ

अतिरिक्त जानकारी के लिये 9311406442 नंबर पर कॉल करें या वाट्सएप करें

विज़िट करें www.drishtiIAS.com

अपने फोन पर इंस्टॉल करें Drishti Learning App

641, 1st Floor, Dr. Mukherji Nagar, Delhi-9
Ph.: 011-47532596, 87501 87501
Website: www.drishtiias.com
E-mail: booksteam@groupdrishti.com

ISBN 978-81-947225-6-4

मूल्य : ₹ 390